उद्धव व्रज में

"एताः परं तनुभृतो भुवि गोपवध्वो गोविन्द एव निखिलात्मनि रूढभावाः।
वाञ्छन्ति यद् भवभियो मुनयो वयं च किं ब्रह्मजन्मभिरनन्तकथारसस्य ॥"

"प्रभो !" आज उद्धवजी एकान्त में श्रीकृष्णचन्द्र के सम्मुख हाथ जोड़कर खड़े हो गये हैं। बड़ा संकोच है, बड़ी उत्सुकता है। उद्धवजी—श्यामसुन्दर ने अपना परम-प्रिय सखा बना रखा है। 'ये सच्चिदानन्दघन, यह तो असीम अनुग्रह है इनका कि इन्होंने मुझे यादव-सभा का मुख्य-मन्त्री ही नहीं बनाया, अपना परम अन्तरङ्ग बना रखा। ये दयामय—इनकी अपार अनुकम्पा—इसकी अकूल उदारता—जैसे मैं परम घनिष्ठ मित्र होऊँ ! उस दिन उन महाभागा सैरन्ध्री (कुब्जा) के यहाँ पधारे और तब भी मुझे साथ ले गये। मैं अकिञ्चन—कितना स्नेह है इन सर्व-समर्थ का मुझपर। पर ये आनन्दकन्द—ये नित्य प्रसन्न—एकान्त में इनकी यह क्या दशा हो जाती है। ये कमल-लोचनों से झरते बिन्दु—ये निःश्वास और जैसे शरीर की ही सुधि न हो। कौन-सी चिन्ता है इन्हें? कालिन्दी-कूल पर इन श्यामल तरङ्गों को देखते ही ये क्यों इस प्रकार व्याकुल हो जाते हैं? ये आत्माराम, पूर्णकाम, चिन्मय श्रीकृष्णचन्द्र और यह विकल भाव—किसका चिन्तन इन्हें इतना अस्त-व्यस्त कर देता है ?' बहुत दिनों से उद्धवजी को पूछना है इस सम्बन्ध में। श्यामसुन्दर बार-बार इस प्रकार उदास हो जायँ—एकान्त मिला और जैसे वह आनन्द-मूर्ति और ही हो जाती है। इन विशाल लोचनों में अश्रु—हृदय मसल उठता है। यह श्रीकृष्णचन्द्र की स्थिति देखी नहीं जाती। साहस नहीं होता, पता नहीं पूछने पर कौन-सा मर्म किस शब्द से स्पर्श करके व्यथित हो उठे। तनिक-सी आहट मिली और श्यामसुन्दर पटुके से मुख पोंछकर भाव बदल लेते हैं। वे किसी पर प्रकट नहीं होने देना चाहते अपनी यह दशा। उन्हें संकोच होगा; जब वे प्रकट नहीं करते—पूछना क्या उचित होगा? पर देखा नहीं जाता ! अब हृदय मानता नहीं। 'आराध्य—अपने हृदयाराध्य की यह चिन्ता !' नन्हे-से बच्चे थे—साथ के बालक उछलते, खेलते और उद्धव अपनी अर्चा में लगते। बालकों को साथ लेते और बालकण्ठ गूँजने लगता—

हरि गोविन्द माधव मधुसूदन !
अच्युतानन्त केशव आनँदघन !!

माता पुकार रही है, भोजन को अतिकाल हो रहा है और बालक को अभी अपने आराध्य को भोग लगाना है, अभी शयन कराना है ! कभी कीर्तन, कभी पूजन और कभी ध्यान—ऐसा ध्यान जो कदाचित् ही कोई योगी कर सके और वह हृदय का श्यामघन-मूर्ति—वह वनमाली, पीतपटधारी घनसुन्दर जन्म से जो हृदय में बसा—जब वह दृगों के सम्मुख आया—कहाँ अपरिचित था वह। हृदय ने उसे सखा कहा था और हँसकर उस परम उदार ने भुजाओं में भर लिया था प्रथम बार देखते ही सखा कहकर। वह बाल्य का—नहीं, नहीं, जन्म-जन्म का चिरसखा, प्राणों का परमाराध्य—वह उदास हो जाता है सहसा ! कोई व्यथा-सी है उसमें—हृदय कैसे सह ले इसे !

"सच्चिदानन्दघन, आनन्दकन्द, पूर्णकाम, सर्वेश, सर्वमय, समदर्शी, निर्विकार, निर्लेप, निर्गुण..." गुरुदेव—उन सुरगुरु ज्ञानमूर्ति भगवान बृहस्पति ने असीम अनुग्रह से अपने चरणों में स्थान दिया। देवगुरु का शिष्य होने का सौभाग्य मिला और उन्होंने भी स्नेह से एकान्त में अपने लोकपूज्य देवशिष्यों की अपेक्षा भी अधिक प्रेमदान करके जो उपदेश किये हैं—बुद्धि में गुरुदेव के आशीर्वाद से वे सतत जागरूक हैं। वह तत्त्वज्ञान—मूर्तिमान् वह परमतत्त्व—निखिलज्ञान का

परम लक्ष्य ही तो उनके सम्मुख है। गुरुदेव ने श्रीकृष्णचन्द्र के सम्बन्ध में जो कहा, श्रुति-पुराण—सभी तो कहते हैं—'ये परा पर प्रभु, ये नित्य निरीह.....!'

"ये स्नेहमय, दयामय, उदार-शिरोमणि सौन्दर्यघन! ये परम सुहृद्! इनके ये अश्रु, ये निःश्वास, यह व्यथित-भाव!' हृदय मस्तिष्क की बात सुनना नहीं चाहता। इन दृगों में अश्रु—नहीं, यह तो देखा नहीं जायगा।' उद्धव जी हाथ जोड़े सम्मुख आ गये हैं। वाणी भले कुछ न कहे, नेत्रों में जो मूकप्रश्न है, जो दयनीय वेदना है—कुछ कहना शेष रह जाता है क्या!

"उद्धव! मेरे परम प्रिय सखा!' आज तो श्यामसुन्दर ने नेत्र पोंछे नहीं। अपना कोई भाव छिपाने का प्रयत्न ही नहीं किया इन्होंने। उठकर हृदय से लगा लिया उद्धव को और दृगों का प्रवाह द्विगुण हो उठा। वाणी रुद्ध हो गयी कुछ क्षण!

"उद्धवजी, आप परमज्ञानी हैं! आप परम कुशल हैं व्यवहार में! आप ही मेरा यह काम कर सकते हैं!" बार-बार कण्ठ रुक रहा है। उद्धव का उत्तरीय आर्द्र होता जा रहा है नेत्रों के जल से। 'तुम व्रज चले जाओ भाई, एक बार! एक बार मेरे माता-पिता को आश्वासन दे आओ! माता....।'

"मेरा संदेश सुना देना गोपियों को! मेरे वियोग की प्रखरतम व्यथा जैसे दूर हो—प्रयत्न करना तुम! गोपियाँ—वे प्रेम की भोली मूर्तियाँ—मुझे छोड़कर उनका मन एक-आधे पल को भी कहीं नहीं जाता! उनके प्राण मुझमें लगे हैं। मेरे लिये उन्होंने देह के दूसरे सब सुख छोड़ दिये! नहीं—उद्धव जी, मुझे रोकिये मत! जिन्होंने मेरे लिये सम्पूर्ण लोकसुख—लोकसम्बन्ध, लोकप्रतिष्ठा छोड़ दी, सारे धर्मों को मुझपर न्योछावर कर दिया, जो मुझे ही परम प्रिय, परम श्रेष्ठ मानती हैं, मन से—प्राण से जो मुझमें ही लगी हैं, मैं उन्हें भूल सकूँ—ऐसा सम्भव नहीं है। मैं अपने हृदय में उन्हें धारण करूँगा ही! हाय, वे व्रज की नारियाँ—उनके प्राणों का परम श्रेष्ठ मैं उनसे दूर यहाँ आ बैठा हूँ, मेरा स्मरण करके उत्कण्ठा और विरह से व्याकुल वे बार-बार मूर्छित हो जाती होंगी! वे मच्चित्ता गोप-कुमारियाँ—मैं उनसे कह आया था कि मैं लौट आऊँगा। वे मुझपर कभी अविश्वास कर नहीं सकतीं। मेरे आने की आशा में किसी प्रकार बड़े कष्ट से वे प्राणों को रोके होंगी! उन आकुल प्राणों को तुम आश्वस्त करो उद्धव!'

'इतने के लिये आप इस प्रकार व्याकुल हैं!' जैसे इसमें चिन्तित होने की को बात ही न हो। उद्धवजी का स्वर कह रहा है कि—'गोप, गोपियाँ—बहुत सीधे, बहुत भोले हैं वे सब! उन्हें समझाने की, उनमें ज्ञान-ज्योति प्रकाशित करने की आवश्यकता है। उनका शोक, उनकी चिन्ता तो दूर कर देना कोई कठिन नहीं है।'

'उद्धवजी, व्रज में—उस व्रज में कितना प्रेम है! वह प्रेम का दिव्य धाम—वियोग जैसे मूर्त हो गया है वहाँ! आप वहाँ पधारें! वहाँ मेरे माता-पिता, स्नेहमयी गोपकुमारियाँ, मेरे···!' श्रीकृष्णचन्द्र बात पूरी करने में समर्थ कहाँ हो रहे हैं।

'दूसरों का तनिक भी कष्ट, स्वजनों का तनिक भी क्लेश आपके लिये असह्य है!' ये उद्धवजी तो अपनी धुने जा रहे हैं। परम बुद्धिमान्, साक्षात् देवगुरु बृहस्पति के वरप्राप्त शिष्य—'भला, भोले व्रजवासियों को ज्ञान देकर उनका शोक दूर करना क्या बड़ी बात है! श्रीकृष्णचन्द्र क्यों आकुल बनें इसके लिये।' श्रीकृष्णचन्द्र—स्वजनों को वियोग-दुःख हो रहा है, इसलिये दुःखी हैं या उस प्रेम-भूमि, उन प्रेम-मूर्तियों का वियोग स्वयं उन्हें व्याकुल किये हैं, कैसे समझ सकेंगे उद्धवजी। 'आप आज्ञा दें और अपने इस सेवक पर विश्वास करें! रथ प्रस्तुत है, मैं आपके चरणों की कृपा से वहाँ के मनस्ताप को ज्ञान के आलोक में दूर कर आऊँगा! आप निश्चिन्त होकर भवन पधारें!'

'हाँ उद्धवजी, जैसे भी उन्हें संतोष हो, जैसे भी उनके प्राणों को तनिक शान्ति मिले—आप पधारें! रथपर चलें! व्रज····!' बहुत कुछ कहना है, बहुतों की स्मृति है! एक-एक के लिये कहने लगें—कभी समाप्त न होगा संदेश; पर ये उद्धव—ये क्या समझ सकेंगे? एक बार व्रज हो आयें ये। एक बार उस भूमि के दर्शन कर आयें! किसके लिये क्या संदेश दिया जाय! हृदय

क्या दो रहे हैं ? सन्देश देना क्या शेष रहा है ? पर उद्धव व्रज में जायँगे—कौन देखेगा इनकी ओर ? कौन सुनेगा इनके ज्ञानोपदेश ? व्रज के नेत्र क्या और कुछ देखते हैं ? वे और किसी की बात सुनते भी हैं ? ये व्रज में जायँ—ये प्रिय सखा, वहाँ इनका सत्कार तो पूरा होना ही चाहिये—'आप इस पटुके को कंधे पर रख लें ! यह कौशेय-पीतपट इस प्रकार पहिन लें—इस प्रकार ! व्रज के वे प्रणयी प्राण मेरे वस्त्र, मेरे आभूषण, मेरे वेश को देखकर संतुष्ट होंगे !' श्यामसुन्दर ने अपने करों से उत्तरीय धारण कराया; अपनी वनमाला, मयूर-मुकुट, गुञ्जामाल, अङ्गद, केयूर—सजाया अपने ही वस्त्राभरणों से उद्धव को !

'आप व्याकुल न हों !' यह वेश—क्या आवश्यकता है इसकी ? उद्धवजी कैसे इन स्नेह-सिन्धु को मना कर दें। अपने ज्ञान पर, अपनी शक्ति पर विश्वास है—विश्वास है अपनी सफलता पर; लेकिन श्रीकृष्णचन्द्र का यह प्रेमपयोधि—चुपचाप इसे स्वीकार ही तो करना है।

'बहुत कोमल, बड़े मानी, बड़े सुकुमार हृदय हैं ! आप परम बुद्धिमान् हैं ! कोई ऐसा शब्द, कोई ऐसी चेष्टा, जो उन्हें व्यथित करे—' भला, यह भी कहने की बात है ! श्यामसुन्दर कहाँ उद्धवजी की भङ्गी देख रहे हैं। ये तो रथपर बैठाकर भी समझाते ही जा रहे हैं—'बड़े मानी, बड़े स्नेह-पालित हृदय हैं ! वहाँ जो कुछ कहा जाय—मेरे लिये, आपके लिये, रुष्ट न होना भाई ! किसी के शब्दों पर न जाना ! कोई चेष्टा यदि वहाँ किसी को तनिक भी व्यथित करे····मुझे पूरा भरोसा है तुम पर ! वही करना, जिससे वहाँ प्राणों को तनिक आश्वासन मिले ! मेरी गायें, मेरे ····।'

'आप विश्वास करें !' श्रीकृष्णचन्द्र कितनी दूर आ गये रथके साथ, ये संदेश, यह भाव-विह्वलता—इनका क्या कहीं अन्त है; पर अब लौटना चाहिये उन्हें। बार-बार उद्धवजी आग्रह करके लौटा पाते हैं, रथ पर बैठाकर लौटते हैं ये वनमाली किसी प्रकार और फिर कुछ कहना है, फिर कुछ आवश्यक सूचना देनी है। उद्धवजी को वह सूचना आवश्यक जान पड़ती है या नहीं, यह देखने का अवकाश किसे है। रथ व्रज जा रहा है—उद्धवजी व्रज जा रहे हैं और ये रथ की ओर लगे कमल-नयन, यह अश्रुधारा, यह आत्म-विभोर विह्वल भाव—व्रज ! व्रज ! रथ व्रज जा रहा है !

× × × ×

'ये तरु, ये लताएँ, ये गुल्म, यह तृणराजि ! यह मर्त्यधरा है ? ये फलोंसे झुकी शाखाएँ ! ये पुष्प-स्तबक ! यह लहराती हरितिमा और सौरभ से झूमता वायु—नन्दन-कानन में भी इतना वैभव हो सकता है ? ये मृग, ये केहरी, ये नाचते मयूर और फण उठाये अहिगण—सत्व का इतना शुद्ध उद्रेक, यह सौन्दर्य और आनन्द का रस-प्रवाह ! यह व्रज है ! श्यामसुन्दर की क्रीड़ा-भूमि व्रज !' दृष्टि जहाँ जाती है, वहीं रह जाती है। अश्व तक ठिठककर देखने लगते हैं यह शोभा। यह पुष्पित, फलित, सुरभित कानन—ऋतुराज अपने ऐश्वर्य के उपकरण कदाचित् यहाँ से भिक्षा में पाते होंगे !

रथ—मथुरा से आता रथ ! पीताम्बर, मयूर-मुकुट—जैसे वन के अणु-अणु में उत्सुकता जाग उठी हो। वृक्ष झूमे, झूमी लतिकायें और तृणों तक में एक लहर-सी झूम गयी। पशुओं के ठट्ट मार्ग के दोनों ओर और पक्षियों से आच्छादित वृक्ष। नेत्रों में भरा अपार उल्लास—और एक क्षण, एक ही क्षण—'रथ ही है वह ! ये तो कोई और हैं !' जैसे किसी ने हिमप्रदेश से उठाकर ग्रीष्मतप्त मरुधरा में फेंक दिया हो।

'क्या हुआ ? क्या हो गया ?' उद्धवजी नेत्र फाड़-फाड़कर देखने लगे हैं इधर-उधर ! 'कहाँ आ गये वे ? यह स्वप्न है या पहला स्वप्न था ?' ठूँठ से खड़े कण्टक-पादप—सभी, खैर और पीलूके वन—पीत पत्रोंसे ढकी ऊसर-सी भूमि, कण्टकाकीर्ण लताएँ, करीर की झाड़ियाँ, दीन, कङ्काल-से पशु, मृतक-से पक्षी, शरीर को दग्ध-सा करता वायु—युग-युग-व्यापी अकाल ने जैसे इसी देश में निवास बना लिया है अपना। ग्रीष्म जैसे यहीं की उष्णता लेकर धरा में कभी-कभी पर्यटन कर आता है ! यह सुनसान—यह संताप—कहाँ गये वे सुरतरु ? कहाँ गयीं वे कल्प-लतिकाएँ ? वे सौन्दर्य, आनन्द, उल्लास की मूर्ति पशु-पक्षी और वह दिव्यमणि-भूमि—यह दैन्य, शोक, संताप की मूर्त धरा कहाँ से आ गयी ?

'क्या वृक्ष भी रोते हैं ?' आज उद्धवजी के आश्चर्य का पार नहीं है। वृक्षों के तनों से निकलती ये शत-शत धाराएँ ! यहाँ तो पाषाण के हृदय को फोड़कर ये अन्तस्ताप बह चले हैं। ये निर्झर—इनके स्वर में जो विकल वेदना है, ये रुदन ही तो कर रहे हैं ! रुदन—क्रन्दन तो कर रही हैं ये कालिन्दी ! उद्धव ने क्या श्रीयमुना की उन्मद हिलोरें नहीं देखी हैं ? नहीं सुना है उनका दिगन्त-पावन कल-कल गान; पर यह ध्वनि—यह प्राणों में हाहाकार करती गूँजती ध्वनि—यहाँ तो कलिन्दजा चीत्कार कर रो रही हैं ! पछाड़ें ले रही हैं उनकी ये तरङ्गे ! और ये कोटरगत-लोचन दीन पशु—ये दुर्बल पक्षी—अश्रु की ये धाराएँ ! वर्षा होती है, मेघ बहुत वेग से वर्षा करते हैं पावस में; पर यह जो तृण-तृण, कण-कण से अश्रु की धारा चल रही है ! पावस—वह गगन के वेदना की अश्रुवर्षा—वह तो जैसे यहाँ से उधार लिया अंश हो।

'शरीर में रोमाञ्च क्यों हो रहा है ? यह कम्प—यह पूरा शरीर काँपने क्यों लगा है ? कैसे हो रहा है चित्त।' उद्धवजी को कौन बताये कि यह व्रज है ! यह प्रेम-भूमि है, जिसपर आप का रथ चल रहा है। इस दिव्य भूमि के ही दर्शन हुये हैं अभी आपको और यह स्वेद से लथपथ, नेत्रों में वर्षा लिये यह कम्प और रोमाञ्च-पूरित देह—दशा—अभी तो व्रज के वे व्रजवासी मिलेंगे ! इस प्रेम-भूमि में आप जब उस मयूर-मुकटी को नहीं ला सके, वसन्त कैसे टिके। यहाँ तो अब ग्रीष्म, पावस और हिम-ऋतु ने एक साथ आधिपत्य कर लिया है।

'यह व्रज ! यह व्रजवन !' हृदय पता नहीं कैसा हो रहा है। 'व्रजवासियों से मिलना है !' साहस साथ नहीं देता ! उद्धवजी—अब भला, लौटा तो कैसे जा सकता है। तनिक अन्धकार हो जाय—सहसा कोई देख न ले ! रात्रि भर में सम्भवतः हृदय आश्वस्त हो जायगा। अभी-अभी दिनके प्रकाश में तो जाने का साहस रहा नहीं। दिन ही कहाँ रहा है ! कितना विलम्ब हुआ मार्ग में। अश्व न चलें, न चलाये जायँ तो विलम्ब न हो !

यह व्रजराज का गोष्ठ ! गोधूलि-वेला में यह दिशाओं को धूसर करके छायी गो-रज, ये हुंकार करते, परस्पर आमोद युद्ध करते उत्तुङ्ग वृषभ, गोष्ठों की ओर दौड़ती गायें। इनके स्तनों से झरती दुग्ध धारायें ! ये अलंकृत बछड़े इधर-उधर उछल रहे हैं ! यह ऐश्वर्य, यह वैभव, यह उल्लास—यहाँ तो जैसे आनन्द मूर्तिमान् हो रहा है !

यह गोदोहन की मङ्गलध्वनि, यह दिशाओं में गूँजते शङ्ख, शृङ्गनाद और यह मुरली-ध्वनि—गोप कितने मग्न हैं अपने आनन्द में ! गोष्ठों में महेन्द्र-से रत्नासनों पर बैठे ये अलंकृत गोप, ये आभूषण-सज्जित गोपियाँ—ये तो अपने मधुर कण्ठ से राम-श्याम के भुवन-पावन चरितों का गान कर रही हैं। ये आनन्द-गद्गद गोप-कुमार, ये गम्भीर प्रशान्त गोप, ये उल्लसित गान करती गोपियाँ ! आज उद्धवजी निरन्तर आश्चर्य में पड़ रहे हैं। कैसा है यह व्रज ? श्यामसुन्दर ने कहा था—सब मेरे वियोग में परम व्याकुल होंगे ! वन का वह दृश्य और यह आनन्द ! यह उल्लास। यह वैभव।

ये व्रज के गृह, गोष्ठ—भगवान् अग्निदेव आहुतियों से परितुष्ट हुए हैं। अग्न्यागारों से उठता सुरभित धूम, आहवनीय-कुण्डों से उठती लाल ऊर्ध्वमुख लपटें, पुष्प-पूजित, सज्जित अग्नि-शालाएँ और अतिथि के लिये जैसे नित्य ही ये अर्घ्य, पाद्य, आसन, पुष्प प्रस्तुत रहते हैं ! पता नहीं कब कोई अतिथि पधारें ! अर्चा के सम्पूर्ण सम्भार प्रत्येक अग्निशाला में सज्जित हैं और गोप—गोप कितनी श्रद्धा से भगवान् भास्कर को अर्घ्य दे रहे हैं ! गोष्ठ पूजित हुए हैं ! प्रत्येक गौ अर्चा प्राप्त कर रही है और ये गृह-गृह से उठते श्रुतियों के सस्वर पाठ, देवार्चन, पितृ-पूजा, विप्रों का अर्चन—मङ्गल-प्रदीप, उठती हुई सुरभित धूप की धूम-राशि माल्य-तोरण-सजे गृह—प्रत्येक गृह में ही महोत्सव है ? प्रत्येक गृह में कोई यज्ञ या विराट् देव-पूजन है ? इतनी श्रद्धा, इतनी सात्त्विक श्रद्धा, इतना अर्चा-सम्भार ! अद्भुत है यह नन्दव्रज।

चारों ओर पुष्पित तरु लता-पुञ्ज, गुंजार करती अलि-अवलियाँ—ये गृहों के बाह्योपवन ! ये इनकी वापियों में सम्पुटोन्मुख सरोज एवं विकासोन्मुखी कुमुदिनियाँ, ये कूजते हैं, चकोर; नाचते

मयूर, अद्भुत शब्द करते शुक-सारिका ! कुहकता पिक ! कहाँ है यहाँ वियोग ? कहाँ है वन की वह साकार व्यथा ? यह आनन्द, ये भाव-विभोर, श्रीसम्पन्न व्रजजन ! उद्धवजी चकित-से इधर-उधर देखते जा रहे हैं। कौन कहे इन परमज्ञानी को कि वह आनन्द-सिन्धु इस व्रज से कहीं जाता ही नहीं। आप के नेत्र उसे देखें या न देखें—ये व्रजवासी उसे देखते हैं ! अपने साथ ही देखते हैं। ये प्रमुदित गोप-कुमार—अधरों पर मुरली धरे, धूसर अलकें, गोरज-सनी वनमाला—उनके मध्य में उसका कनूँ वन से न लौटे—ये शृङ्ग बजा सकेंगे ! शृङ्ग तो बजते ही वेणु की प्रेरणा लेकर हैं। ये वृषभ—ये इस प्रकार युद्ध करें, इस प्रकार गर्जन-ध्वनि फूटे इनके कण्ठ से, यदि वह गोविन्द इन्हें देखकर प्रसन्न न होता हो। गोपाल न हो—गायें दूध देंगी ? बछड़े फुदक सकेंगे ? उस वनमाली को सूँघे बिना क्या कूद सकते हैं ? गोपियाँ राम-श्याम के मङ्गल-चरित गाने में लगी हैं ! वृद्ध गोप आराधना के अनन्तर ब्राह्मणों के सत्कार में लगे हैं। तरुण ग्वाल गो-दोहन में व्यस्त हैं—नीलसुन्दर की वन से लौटती एक झाँकी नेत्र न पायें, कुछ होगा ? कोई हिल भी सकेगा ? किसे देखकर मयूर नृत्य करते हैं ? किसे शुक पुकारते हैं ? हंस किसकी गति का अनुकरण करते हैं ? ये पुष्प, ये पादप, ये लताएँ, ये दिशाएँ—किसका परमानन्द व्याप्त है इनमें ? उद्धवजी उस व्रजेन्द्रनन्दन को न देखें, व्रज में वह न दीखे—किसके प्राण टिके रहेंगे ? लेकिन उद्धवजी के लिये तो समस्या ही है यह सब। चकित-चमत्कृत वे एक-एक पदार्थ, एक-एक व्यक्ति को देख रहे हैं ! किसे अवकाश है कि उनके रथ की ओर इस गो-पूजन की पावन वेला में ध्यान दे ! किसके नेत्र दिन भर से पिपासु नहीं बने थे उस वन से नित्य लौटनेवाले वनमाली की रूप-सुधा के ! अब गो-दोहन-काल—कौन दूसरी ओर ध्यान दे इस समय।

× × × ×

'उद्धव ! उद्धवजी !' मयूर-मुकुट, पीतपट और इन वस्त्रों में जो सुरभि है—श्याम के श्रीअङ्ग की यह सुरभि—यह भी क्या भूल सकती है। अपने पदों में प्रणत उद्धव को बाबा ने उठाकर हृदय से लगा लिया। ये उद्धवजी—बाबा के मथुरा रहते ही श्री कृष्णचन्द्र ने इन्हें सखाओं में ले लिया। बाबा को जैसे अपना कन्हाई ही मिल गया है आज ! नेत्रों से झरती वारि-धारा—अतिथि के लिये इससे पावन अर्घ्य कभी कोई दे सका है ! मथुरा से आये हैं उद्धवजी—बहुत देर में किसी प्रकार बाबा ने अपने को सम्हाला। 'भैया, भवन में पधारो !' बाबा को तो लगता है—ये उद्धव उनके श्याम-से ही तो हैं ! ये श्रान्त हो गये होंगे ! अब उद्धवजी का मना करना, संकुचित होना क्या काम आये ! बाबा तो अपने हाथों उनके चरण धोने लगे हैं, आचमन कराके स्नान कराने लगे हैं, अपन ही हाथों चन्दन, माल्य, पुष्प से शृङ्गार करने में लगे हैं उनका। जैसे पिता अपने श्रान्त सुकुमार पुत्र की परिचर्या में लगा हो—यह स्नेह, यह उमंग, यह वात्सल्य ! कैसे मना किया जाय इसे।

'तुम दूर से आये हो न !' भोजन के पश्चात् शय्या पर विश्राम करते ही बाबा ने उद्धव के चरण अङ्क में ले लिये। धीरे-धीरे दबाते जा रहे हैं उन्हें। 'कृष्णचन्द्र भी बहुत संकोची है !' बाबा को उद्धव की झिझक, उनके संकोच में अपने श्याम के स्वभाव के दर्शन होते हैं। अन्ततः श्याम के प्रिय सखा हैं न ये। उद्धवजी अब चाहे जितना कहें कि वे थके नहीं हैं, बाबा को तो बहाना ही जान पड़ेगा यह। यह मैया आ गयी है—यह आकर एक ओर बैठ गयी है। ठीक ही है इसका यह संकोच ! उद्धव को कहाँ देखा है इसने और परम ज्ञानी उद्धवजी—अभी मैया का वात्सल्य पाने के लिये श्याम के सखाओं का साक्षात्कार कहाँ पाया इन्होंने। वही नीलवर्ण, वही मुकुट, वही पीतपट—मैया स्नेह शिथिल है या संकोच से शान्त—कौन कह सकता है। कन्हैया का वह चापल्य और ये गम्भीर उद्धवजी—मर्यादा कुछ कहती है—हृदय कहता है, यह भी वैसा ही शिशु है, तनिक गम्भीर—कदाचित् नूतन गृह में संकुचित हो !' मैया बैठ गयी है बस, आकर। देख रही है—बार-बार उद्धव को, फिर भूमि को देख रही है। पता नहीं किस विचार में थकित-सी बनी है।

'महाभाग उद्धवजी, मेरे परम प्रिय सखा श्रीवसुदेवजी सुख से तो हैं ? अपने पुत्रों के साथ सुहृदों सहित कुशलपूर्वक तो हैं वे ? कितने दिनों पर, कितने क्लेशों के पश्चात् परित्राण पाया उन्होंने ! धर्म-परायण, निर्दोष, साधुशील यदुवंशियों से नित्य द्रोह करनेवाला वह कंस--वह पापी अपने पाप से ही अपने अनुचरों के साथ मारा गया ! सौभाग्य से यादवकुल का क्लेश दूर हुआ !' वाणी रुक रही है, मुख विवर्ण होता जा रहा है ! कुछ कहना है, कुछ पूछना है, जैसे वह वाणी पर आता ही नहीं। बाबा ने नेत्र पोंछे किसी प्रकार।

'उद्धवजी ! श्री कृष्णचन्द्र कभी अपनी इस माता का स्मरण करते हैं ? कभी वे अपने सुहृदों, सखाओं, गोपियों, गोपों, गायों, व्रज, वृन्दावन, गोवर्धन का भी स्मरण करते हैं ? कभी उन्हें स्मरण होता है कि हम सबके प्राणों के, सत्ता के एक वे ही स्वामी हैं ! क्या अपने स्वजनों को देखने के लिये कभी एक बार भी वे आयेंगे यहाँ ? उद्धवजी--हम तो तभी उनके स्मित-शोभित उस कमल-मुख को देख सकेंगे !' कन्हैया व्रज में आये तभी तो उसके कमल-मुख के दर्शन हों ! मथुरा दूर न सही—श्याम का उपनयन हुआ, वह गुरुकुल से लौटा--अधरों पर वेणु धरे, गायों के पीछे चलता, वनधातु-चित्रित, चपल, चञ्चल, नटखट कनूँ और मथुरा में उसे देखा जाय ? राज्य-कार्य में व्यस्त, गम्भीर, व्यवहार-पटु वासुदेव--व्रज के भोले प्राण कौन-सी परितुष्टि पायेंगे उसे वहाँ देखकर ! वह संकुचित हो—वह यादव-पूजित—गोपों में रहा वह—संकोच में पड़े गोपों के वहाँ जाने से, दूसरे ही उसे देखकर अधरों में हँसे--प्राण कैसे सह सकेंगे इसे ! ना, गोपों के लिये तो मथुरा दूर--बहुत दूर हो गयी है। वही आये व्रज में, वही पधारे तो उसके श्रीमुख के दर्शन हों ! बाबा विह्वल हो गये हैं। उनका श्याम—वह मथुरा में है ! वेदना सीमा पार करती जा रही है।

"उद्धव ! कृष्णचन्द्र ने इस व्रज को दावाग्नि से, महाभयङ्कर प्रलय-वायु एवं वर्षा से, वृषासुर से, कालिय नाग से—अनेक दुस्तर विपत्तियों से बचाया ! उन्हें नहीं आना था, नहीं रहना था यहाँ—क्यों बचाया भला, व्रज को ? अनेक बार मृत्यु के दुरत्यय पाश से उन्होंने रक्षा की सब की ! श्रीकृष्ण की वह शक्ति, वह चापल्य, वह दीर्घ कमल-लोचनों का चपल निरीक्षण, वह उस श्याम की हँसी, वह मधुर वाणी ! हम सब के सर्वाङ्ग उसे स्मरण करके ही शिथिल हो जाते हैं। समस्त क्रियाएँ शिथिल हो जाती हैं !" बाबा पता नहीं क्या कह रहे हैं। वे स्वयं भी समझते हैं कि क्या बोल रहे हैं, इसमें संदेह ही है।

"यह कालिन्दी ! श्याम इसके तट पर खेलता था। यह गिरिराज—कन्हाई गायों को लेकर नित्य इन पर क्रीड़ा करता था। यह वृन्दावन—इसकी पद-पद भूमि मोहन के चरणों के चिह्नों से अङ्कित है। ये कनूँ के खिलौने—ये क्रीड़ा-कुञ्ज, ये पशु, ये पक्षी, यहीं इनसे चलती थी उसकी उनकी उन्मद क्रीड़ा !" जैसे बाबा इस भवन-कक्ष में बैठे-बैठे भी सम्पूर्ण भूमि प्रत्यक्ष देख रहे हैं। वे किसी दूसरे भावलोक में हैं।

'यह मयूरमुकुट, यह पीताम्बर, यह श्रीकृष्ण की अङ्ग-गन्ध !' कन्हाई ने अपने वस्त्राभरणों में उद्धवजी को यों ही नहीं भेजा है। यह वस्त्र, ये आभरण, यह गन्ध ही तो है जो बाबा को, मैया को बार-बार बहिर्जगत् में खींच लाती है। उनके व्याकुल प्राण इसी सूत्र में आबद्ध शरीर-पञ्जर में घूमे-घिरे रह जाते हैं। नहीं तो यह व्यथा—यह तड़पन.....

'उद्धवजी, श्रीकृष्णचन्द्र के ये स्मारक चिह्न—इन्हें देखकर ही हमारे चित्त अपने हाथ में नहीं रहते। हम बेसुध-से हो जाते हैं। आप कुछ अन्यथा न सोचेंगे ! हम मानते हैं कि राम-श्याम कोई सुरश्रेष्ठ हैं ! वे देवताओं का कोई महान् कार्य करने ही धरा पर आये हैं ! महर्षि गर्गजी ने यही कहा था। भला, सर्वज्ञ महर्षि की वाणी कैसे भ्रान्त हो सकती है। दस सहस्र हाथियों का बल रखनेवाला कंस, उसे कृष्णचन्द्र ने खेल के समान मार दिया, मार दिया उन पर्वताकार मल्लों को और हाथियों में सर्वश्रेष्ठ कुवलयापीड़ को इस प्रकार मार दिया जैसे सिंह पशुओं को सहज ही मार देता है ! मैंने सुन लिया है—कंस का वह महाधनुष—तीन ताल विशाल, वज्रसार और उसे श्रीकृष्ण ने तोड़ दिया—ऐसे तोड़ दिया, जैसे गजराज इक्षुखण्ड तोड़ दे ! उद्धवजी, यहीं व्रज में

ही इन गिरिराज गोवर्धन को श्याम एक सप्ताह तक एक हाथ पर उठाये रहा, हाथ तक नहीं बदला उसने ! प्रलम्ब, धेनुक, अरिष्ट, तृणावर्त, बकासुर, केशी, अघासुर आदि दैत्य जिन्हें श्याम ने खेल में मार दिया—आप तो जानते ही हैं कि इनमें से प्रत्येक समस्त सुर एवं असुरों को जीत लेने की शक्ति रखता था ! यह शौर्य, यह पराक्रम कृष्णचन्द्र का .....।' पता नहीं कितना कहना है, क्या-क्या कहना है। श्रीकृष्ण, कृष्णचन्द्र—उस कन्हाई के गुण, कर्म, रूप—कहीं पार है ! बाबा का कण्ठ भर गया है। चेष्टा करके भी अब बोल नहीं सकेंगे वे। हिचकियाँ बँध गयी हैं।

'मेरा कनूँ ! नीलमणि !' मैया विह्वल हो गयी हैं। कब से उसके स्तनों से वात्सल्य की उज्ज्वल धारा च रही है। श्याम ! कन्हाई !' नेत्र फटे-फटे-से हो रहे हैं ! यह तो चेतना-शून्य हो रही है।

'यह अनुराग ! यह वात्सल्य ! परमपुरुष श्रीकृष्णचन्द्र में इतना प्रगाढ़ प्रेम !" उद्धवजी ने कल्पना भी नहीं की थी कभी इस सीमाहीन भाव की। वे चञ्चल हो उठे हैं। "बाबा ! बाबा ! मैया !" बाबा ! मैया ! जैसे कोई दूसरा ही उनके मुख से प्रकार उठा है। 'बाबा ! मैया !' यह मयूर-मुकुट, यह पीतपट, यह आर्त स्वर—यही तो बाबा को, मैया को पुनः कुछ चेतना दे पाता है। इसी से तो वे बार-बार तनिक सावधान हो पाते हैं। उनके विवर्ण पीत-श्वेत बनते मुखपर तनिक आभा इसी से तो पुनः लौटती है ।

'आप दोनों परम श्लाघ्य हैं ! समस्त प्राणियों के लिये परम सम्मान्य हैं ! अखिलगुरु, विश्वेश्वर साक्षात् नारायण में आप की इतनी प्रगाढ़ भक्ति है ! इतनी दृढ़ निष्ठा है ! ये राम और मुकुन्द ही विश्व के परम कारण हैं। ये ही प्रधान पुरुष हैं। समस्त प्राणियों के ये ही परम अन्वेष्य हैं ! परम ज्ञान के ये ही अधीश्वर हैं ! ये ही पुराणपुरुष हैं।'

'मृत्यु के अन्तिम क्षण में, शरीर छोड़ते समय एक क्षण के लिये जिनमें अपने शुद्ध मन को एकाग्र करके प्राणी कर्मबन्धन से त्राण पा जाता है, कर्मचक्र को त्यागकर परम प्रकाशरूप ब्रह्मपद को तत्काल प्राप्त कर लेता है, आप दोनों उन्हीं निखिलात्मा, सर्व-कारण-कारण मानवरूप में व्यक्त श्रीनारायण में अपने प्रगाढ़ भाव को नित्य स्थिर किये हैं ! आप परम महात्मा हैं। भला, अब आप के लिये कौन-सा सत्कार्य, कौन-सा पुण्य शेष रहा ! आपने समस्त पुण्यों, समस्त साधनों का फल प्राप्त कर लिया !'

'श्याम नहीं आयेगा ? क्या कह रहे हैं ये उद्धव ! प्राण-वियोग-काल में उसका ध्यान—पता नहीं क्या कह रहे हैं ये ! ये तो प्रशंसा करते हैं स्नेह की ! पुण्य-फल बताते हैं इसे ! तो वह न आयेगा ? उसके आने की आशा नहीं है ?' बाबा, मैया—नेत्रों के प्रवाह सूख गये, मुख विवर्ण हो गया। अङ्ग जैसे काष्ठ हो गये।

'आयेंगे ! बाबा ! बाबा ! श्रीकृष्णचन्द्र शीघ्र ही आयेंगे !' बड़ी व्यग्रता से उठकर उद्धव जी ने व्रजराज को दोनों भुजाओं से सम्हाला।

'आयेगा कृष्णचन्द्र ?' बाबा तो जैसे अब भी अर्धचेतना में पूछ रहे हैं। इनका स्वर कहाँ स्पष्ट होता है ।

'आयेंगे—बहुत शीघ्र आयेंगे वे अच्युत ! वे सात्वतपति प्रभु व्रज में आयेंगे और शीघ्र ही माता-पिता को प्रसन्न करेंगे !" उद्धव के वचनों ने जैसे श्रवणों में सुधा ढाल दी है । प्राण लौट आये हैं। चेतना आ गयी है बाबा में ! मैया के नयन पुनः निर्झर बन गये हैं।

'सच' उद्धव—सत्य कहते हो तुम ? कृष्णचन्द्र आयेगा यहाँ ?" बाबा का गद्गद कण्ठ कुछ स्पष्ट हुआ है। एक आशा—जीवन के लिये एक आशा-सूत्र तो मिला !

'बाबा, श्रीकृष्ण ने कंस को मारकर रङ्ग-सभा में ही आप से पुनः आने की बात कही थी न ! समस्त सात्वत-वंश जिनका साक्षी है, श्रीकृष्ण अवश्य अपने उन वचनों को सत्य करेंगे।" बाबा का यह अकूल प्रेम पारावार, यह आकुलता—उद्धवजी क्या इस समय स्थिर हैं, यह समय क्या सोचने का है कि श्रीकृष्णचन्द्र ने बाबा से व्रज लौटने की बात रङ्गशाला में कही या विदाई के समय ! कही—सभी सात्वतों के सम्मुख कही—बस ! और बाबा—'कृष्णचन्द्र आयेगा !' बाबा

को इस समय इन शब्दों से आगे-पीछे के वाक्य क्या सुनायी पड़ते हैं। वे इस समय कुछ सोचने, स्मरण करने की स्थिति में कहाँ हैं।

'श्रीकृष्ण आयेंगे! क्या कहा गया? श्यामसुन्दर ने तो ऐसा कोई आश्वासन दिया नहीं! यह असत्य—इसे सत्य हो जाना चाहिये, किंतु इस रूप में तो सत्य होता नहीं दीखता यह!' उद्धवजी जानते हैं अपने आश्वासन का महत्व! इसे असत्य कहना कितना अनर्थकारी हो सकता है! उन्हें ज्ञानोपदेश भी करना है। अपने वचनों को दूसरे अर्थ में सत्य बता सकते हैं वे। कम-से-कम अपना बौद्धिक संतोष तो हो जाय कि असत्य नहीं कहा गया! अपना उपदेश प्रारम्भ किया उन्होंने—'महाभाग, आप लोग शोक न करें! आप श्रीकृष्ण को अपने समीप ही देखेंगे! वे तो समस्त प्राणियों के हृदय में वैसे ही विद्यमान हैं, जैसे काष्ठों में अग्नि।'

'न तो उनका कोई प्रिय है और न अप्रिय। न कोई उनसे श्रेष्ठ है न कनिष्ठ और न समान ही। वे अमानी, अद्वितीय सर्वत्र हैं, समदर्शी हैं। न उनका कोई पिता है न माता। न कोई स्त्री है उनकी न पुत्र। न कोई उनके लिये आत्मीय है न शत्रु। उनका न कोई देह है न जन्म है। सत्, असत्, मिश्रित—इन भौतिक योनियों में जन्म दे सकें—ऐसे कोई कर्म उनके नहीं हैं। वे तो अपनी लीला से, साधुजनों के परित्राण के निमित्त इन जन्मादिकों को स्वीकार मात्र करते हैं। वे गुणातीत निर्गुण परात्पर प्रभु सत्व, रज एवं तमोगुण को क्रीड़ापूर्वक ही संचालित करते हैं और इन गुणों के अधिष्ठाता-रूप से जगत की सृष्टि पालन एवं लय करते हैं। जैसे घूमनेवाले यन्त्र पर बैठने से पृथ्वी ही घूमती जान पड़ती है, वैसे ही निर्लिप्त आत्मा चित्त में अहंभाव करके अपने को कर्ता मान लेता है। वस्तुतः तो सर्वान्तर्यामी भगवान् श्रीहरि केवल आपके पुत्र ही नहीं हैं, वे तो समस्त देहधारियों के आत्मरूप एवं उनके माता-पिता हैं! जो कुछ दिखायी पड़ सकता है, सुना जा सकता है, था, है या होगा, वह चर-अचर, महत्-अल्प—सभी कुछ अच्युत ही हैं। अच्युत के बिना उनमें किसी की कोई भी पारमार्थिक सत्ता नहीं।'

उद्धवजी का तत्त्वज्ञान तो वे ही जानें; पर बाबा—मैया ने क्या अर्थ लिया इसका—'कन्हैया मथुरा में ही आबद्ध रहे, वहीं आसक्त रहे, ऐसी बात नहीं है। वहाँ वह कर्तव्य-पालन में ही न लगा है। न वहाँ कोई प्रिय है—अन्तरङ्ग है और अप्रिय तो होगा कहाँ से। वहाँ सभी समान हैं उसके लिये। वहाँ वह भला किससे खुले! किसे स्वजन बनाये! माता-पिता भी वहाँ नहीं! अब भी उसे माता-पिता के लिये सम्भवतः व्रज ही याद आता होगा! ये उद्धव भी बड़े भोले हैं—उसी-जैसे भोले! अरे यह तो सब जानते हैं कि अभी विवाह ही नहीं हुआ उसका और तब पुत्र?' एक हँसी आ गयी इस विषाद में भी बाबा को। मैया की नेत्र-वर्षा द्विगुणित हो गयी। पता नहीं कौन-से संचित स्वप्न साकार हो गये अन्तर में।

'कोई सुहृद् नहीं! कनूँ बहुत संकोची है। किसी से खुलकर मिल न सकेगा, यह तो पहले से ही अनुमान था। कोई कार्य उसे विवशतः नहीं करना पड़ता; पर क्रीड़ा के लिये वह करता सब है। खेलना बहुत प्रिय है उसे बचपन से! खेल के पीछे तो वह स्नान-भोजन भी भूल जाया करता है। वहाँ सब उसे ही माता-पिता मान बैठे हैं! नन्हा-सा सुकुमार कन्हाई—ये नगर के लोग पता नहीं कितना तंग करते होंगे उसे! अच्छा, तो उद्धव को, नगर के लोगों को भी सर्वत्र श्याम ही श्याम दीखता है! इनकी भी दशा व्रज की सी ही है?' उद्धवजी का ज्ञानोपदेश चल रहा है। बड़े उत्साह से, बड़ी उमंग से सुना रहे हैं वे। उन्हें लगता है—सफल हो रहे हैं वे। कितने ध्यान से सुन रहे हैं बाबा, कैसी एकाग्र है मैया। अश्रु, हास्य, कुछ व्याकुलता—पर अब वह रुदन, वह आकुलता नहीं है। अब अवश्य सफलता होगी।

बाबा—मैया! ज्ञान क्या होता है? मथुरा के लोग उनके कान्ह को अच्युत, भगवान्—पता नहीं क्या-क्या कहने लगे हैं। ये उद्धवजी उसी कन्हाई की ही तो बात कर रहे हैं। मथुरा में किसी से उसकी आत्मीयता न हुई, उसका मन न लगा और अब वह शीघ्र आनेवाला है। व्रज में

आने वाला है ! यही तो ? ये उद्धवजी उसी श्यामसुन्दर की चर्चा कर रहे हैं। बाबा के लिये, मैया के लिये इससे और प्रिय चर्चा क्या हो सकती है।

× × × ×

'कन्हैया को नवनीत चाहिये !' गोपियाँ ब्रह्म-वेला में ही नित्य उठ जाती हैं। दीपक जलाये, स्थान और पात्र स्वच्छ किये, प्रारम्भ हो गया दधि-मन्थन। कङ्कणों का कणन, चूड़ियों की झंकृति और दही में घूमती मथानी का घनघोष—यह मङ्गलमयी दधिमन्थन-ध्वनि और इस वाद्य के तालपर चल रहा है कोमल कण्ठों से झूमता उस अरविन्दनयन मयूरमुकुटी का चरित-गान ! आत्मविस्मृत गोपियों का यह उन्मुक्त गान—दिशाएँ पवित्र हो रही हैं इस पावन स्वर-लहरी से।

'प्रभात हो गया !' उद्धव चौंके। पूरी रात्रि व्यतीत हो गयी उन्हें। उठे वे और बाबा से अनुमति ली। नित्यकर्म के लिये श्री कालिन्दी-तटपर जाना है। जाना तो बाबा को भी है, पर एकान्त चाहिये उद्धवजी को।

'यह रथ किस का है ?' प्रभात में ही गोदोहन के लिये आये गोपों का ध्यान रथ की ओर गया। 'यह स्वर्णमय रत्नजटित रथ—मथुरा से ही आया लगता है !' मथुरा से कोई रथ आया है ! गृह-गृह में बात पहुँचते कितनी देर लगती है।

'मथुरा से रथ ? फिर अक्रूर तो नहीं आया ! यहाँ से कमललोचन श्रीकृष्णचन्द्र को मथुरा ले गया वह कंस का स्वार्थ सिद्ध करने के लिये ! अब क्यों आया यहाँ ? अब क्या अपने उस मृत स्वामी का हम से प्रतिशोध लेने आया है ?' गोपियों के दधि-पात्र पड़े रहे, नवनीत तैरता रहा, गृह-कार्य रह गये जहाँ-के-तहाँ। वे एकत्र हो आयीं नन्दद्वार पर। रथ को देखकर उनमें नाना प्रकार के विकल्प उठने लगे।

'कौन आया है ?' गोपों का गोदोहन विरमित होने लगा। बालक श्री यमुना-तट की ओर दौड़े। भवन में जब कोई नहीं है—नहीं है, यह तो द्वार से ही जान पड़ता है, तब नित्यक्रिया करने ही गया होगा। कौन होगा ? कनूँ—कब आयेगा कन्हाई ? यूथ-के-यूथ बालक दौड़े !

'ये कौन हैं ?' बालक—भोले सरल बालक खड़े रह गये। यह पीतपट, यह वनमाला, यह मुकुट—पर कनूँ चाहे जिसे अपने वस्त्राभरण दे देता है ! वह क्या संकोच करता है कभी वस्त्रादि देने में ? कनूँ—कन्हैया—नहीं आया वह ? तब क्या पूछना है ? क्या कह सकेंगे ये ? संकोची बालक क्या कुछ पूछ सकेंगे ? ये भरे, झरते लोचन, ये सूखे-से सुमन, ये शीत-ताड़ित सरोज-से मुख—उद्धव क्या कहें ? कैसे कहें इनसे ज्ञान की बात ? इनसे प्रवञ्चना भी कैसे की जा सकती है ? नेत्र भर आये। यमुना-जल में टप्-टप् बिन्दु गिरने लगे। एक बार मस्तक उठाकर देखा और फिर झुका लिया। देखने तक की शक्ति नहीं। श्याम के ये सखा—ये आये हैं, अपने उस कनूँ की बात पूछने आये हैं ! उद्धव—बेचारे उद्धव, सिर ही नहीं उठा पाते वे।

'गायें हुंकार कर रही हैं ! कनूँ प्रतीक्षा करता होगा !' गायें पुकारें और गोपाल न आ जायँ—बालक पीछे मुड़े और भागे। जैसे उद्धव का स्मरण नहीं, उद्धव सम्मुख नहीं, यह भी नहीं कि क्यों आये थे यहाँ ये।

'प्रेमोन्मत्त व्रज !' उद्धव देखते रहे, एकटक देखते रहे दौड़ते-कूदते बालकों को। अभी रात्रि में ही क्या बाबा की, मैया की आत्मविस्मृति नहीं देखी है उन्होंने। कितनी बार मैया उठी मध्य में—'तनिक नीलसुन्दर को देख लूँ ! कहीं सोते में वस्त्र तो नहीं खिसक गया !' बाबा कितनी बार विस्मृत हुए अपने को और ये बालक—अन्ततः तो ये भोले बालक ही हैं। अपने-आप उद्धव का मस्तक झुक गया।

× × × ×

'विशालबाहु, कमललोचन, पीताम्बरधारी, मणिकुण्डल-मण्डित, पवित्र मुस्कानवाले ये कौन हैं ? यह सुन्दर वेश—यह उन श्याम सुन्दर का वेश, उन्हीं के वस्त्र और आभरण—ये वस्त्राभरण तो मोहन के ही हैं, इन्हें पहचानना क्या कठिन है ! पर ये सब इन्होंने पाये कहाँ ? कैसे

पाये ?' बड़ी उत्सुकता, बड़ी उत्कण्ठा है। गोपियाँ रथ देखकर ही यमुनातट की ओर चल पड़ी हैं। 'कौन आया है ? क्यों आया है ?' उन्हें भी तो पता लगाना है और ये श्याम-शरीर, वनमाली, मयूर-मुकुटधर—ये तो कालिन्दी-कूल से अपना नित्यकृत्य समाप्त करके इधर ही आ रहे हैं। अवश्य इन्हें श्यामसुन्दर ने भेजा है। मथुरा से आये हैं ये और ये वस्त्राभरण—अवश्य मोहन ने ही इन्हें यहाँ भेजा होगा !

'क्या संदेश लाये होंगे ये ?' उत्कण्ठा की सीमा नहीं है। एकान्त में ही तो इनसे पूछा जा सकता है। सब आ गयी हैं मार्ग के समीप। उद्धवजी आये समीप, सब ने झुककर प्रणाम किया। 'आप क्या दो क्षण यहाँ विराजेंगे ?' लज्जा, संकोच, बड़ी कठिनता से धीरे से कहा जा सका है यह। मन्द हास्य, सलज्ज निरीक्षण—मस्तक सब ने नीचे झुका लिये हैं, भूमि को देख रही हैं ! उत्तरीय का आसन डाल दिया है भूमि पर। उद्धवजी को स्वयं ही मिलना था इन से; पर भूमि पर ही तो बैठ सकते हैं वे। यह उत्तरीय तो प्रणम्य ही है उनका।

'हमें पता है कि आप श्रीयादवेश के पार्षद हैं ! आपके उन अधीश ने अपने माता-पिता को प्रसन्न करने के लिये आपको यहाँ भेजा है, नहीं तो व्रज में उनके स्मरण करने योग्य और भी कुछ है, यह तो हमें दिखायी ही नहीं पड़ता। माता-पिता से उनका स्नेह है और यह बन्धुओं का स्नेह-बन्धन छोड़ देना तो मुनियों के लिये भी कठिन होता है। दूसरों से मनुष्य जो मित्रता स्वार्थवश करता है, वह मैत्री तो स्वार्थपूर्ति तक ही होती है। स्वार्थ पूरा होने पर कौन किसका स्मरण करता है ! पशु-पक्षी तक तृण-जल जाने एवं फल न रहने पर वन एवं वृक्षों को छोड़ देते हैं ! कौन विद्यार्थी अध्ययन के पश्चात् आचार्य का स्मरण करता है ? किस असमर्थ नरेश की चिन्ता प्रजा ने की है ! स्वार्थ की मैत्री होती ही क्षणस्थायी है !' पता नहीं कहाँ गया संकोच, कहाँ गयी लज्जा, गोपियों को तो अपना ही पता नहीं रहता उस श्यामसुन्दर का स्मरण होने पर, फिर लौकिक आचार का किसे स्मरण रहे ! ये उद्धव—ये अपरिचित सज्जन, इनके सम्मुख क्या कहना है, क्या नहीं कहना है—यह सब कहाँ स्मरण है उन्हें ! वे तो क्रन्दन करने लगी हैं, सिसकने लगी हैं, हिचकियाँ लेने लगी हैं। जो उनके भीतर है—जो प्रेमरोष भरा है, वाणी में व्यंग बनकर भी कितना स्निग्ध है वह। उन्हें श्यामसुन्दर के बाल्य-चापल, कैशोर विहार—पता नहीं कितनी लीलाएँ स्मरण आ रही हैं। वे गाती हैं, रोती हैं, प्रलाप करती हैं। उद्धव—बेचारे उद्धवजी चुपचाप देख रहे हैं। चकित, स्तम्भित, मूक ! 'यह प्रेम श्रीकृष्ण में ! इन ग्राम्याओं में यह अपार अनुराग !'

कहीं से एक भ्रमर आ गया। भ्रमर—उसकी गुंजार, उसका वेश—एक की दृष्टि स्थिर हो गयी उस पर। 'यही तो आया है मथुरा से ! इसी को तो उस छली ने अपने वेश, अपने वस्त्रों में सजाकर भेजा है।' वह अपने भावोन्माद में ही उस भ्रमर को सम्बोधन करके कह चली—

'मधुप, तू उस कपटी का मित्र है ! हमारी सपत्नियों के वक्ष का कुङ्कुम उनकी वनमाला में लगकर तेरे श्मश्रुओं में लग गया है। इस श्मश्रुसे तू हमारे चरण मत छू ! जिसका दूत ही तू इस प्रकार का है, वह मधुपति ही उन मानिनियों के इस प्रसाद की उपहासास्पद विडम्बना को यादवों की सभा में धारण करें।'

'तू जैसे पुष्पों का एक बार रस लेकर उन्हें सर्वथा छोड़ देता है, वैसे ही उन्होंने अपनी सम्मोहिनी अधर-सुधा एक बार देकर हमें छोड़ दिया। पता नहीं वे सिन्धुजा कैसे उनके श्रीचरणों की निरन्तर परिचर्या करती हैं। अवश्य ही उन उत्तमश्लोक के मधुस्निग्ध कपट-जल्पों से रमा का चित्त आहृत हुआ है।'

'भ्रमर ! हमारे सम्मुख तू यह क्या उन यादवेश की कीर्ति का पुराण ले बैठा ! ये उनके लीला-यश-प्रसङ्ग तो उन विजय के सखा की मधुपुरवासिनी सखियों के आगे ही कहो ! उनके हृदय की आधि शान्त हो गयी है, अतः वे तेरे लिये अभीष्ट पूर्तिका विधान कर सकेंगी।'

'उनकी कपटभरी हँसी और भ्रूविक्षेप इतने मनोहारी हैं कि उनके लिये स्वर्ग, धरा और पाताल—तीनों लोकों में कौन-सी ऐसी स्त्री है, जो दुर्लभ हो। जिनके चरणरज की उपासना स्वयं

महालक्ष्मी करती हैं, उनके लिये हमारी गणना ही क्या है; किंतु दुखियों-दीनों पर दया करने की प्रसिद्धि लिये हुए उनका जो उत्तमश्लोक नाम है, वह क्या जल्प ही है ?'

'हमारे पैरों से अपना मस्तक तू हटा ले ! हम जानती हैं कि तू बड़ा चाटुकार है। तुझे अनुनय करना खूब आता है और इसी से तू मुकुन्द का दूत होकर आया है ! जिसके लिये हमने इस लोक के पति-पुत्रादि समस्त भोगों को छोड़ दिया, परलोक की चिन्ता छोड़ दी, वे हमारे प्रति सम्पूर्ण अकृतज्ञ होकर हमें त्यागकर चले गये; फिर उनके दूत का कैसे विश्वास कर लें हम।'

आज की तो उनकी यह निष्ठुरता नहीं है। 'व्याध की भाँति रामावतार में उन्होंने बानरराज वाली को छिपकर बींध दिया था, बेचारी शूर्पणखा के नाक-कान कटवाकर कुरूप कर दिया था; वामनावतार में दैत्यराज बलि को बलिपशु की भाँति बाँध दिया; ऐसे काले की मित्रता से बस ! पर किया क्या जाय, उनकी चर्चा छोड़ी नहीं जाती।'

कैसे छोड़ी जाय उनकी चर्चा—'जिनके लीलारूपी अमृत का कर्णपुटों से एक बार पान कर लेने से तत्काल राग-द्वेषादि द्वन्द्वात्मक चित्त-धर्मों के नष्ट हो जाने के कारण बहुत-से लोग अपने दुखित स्वजनों, कुटुम्बों एवं घरों को छोड़कर अकिञ्चन होकर पक्षियों की भाँति अनिकेत होकर भिक्षाटन करते फिरते हैं।'

पर यहाँ तो केवल कथा-श्रवण की बात ही नहीं; हमारे, श्रवणों में तो साक्षात् उनकी सुधामयी वाणी गयी है ! 'जैसे अज्ञ हरिणियाँ व्याध के छद्म-स्वर को सुनकर बँध जाती हैं, वैसे ही हमने उस छली की कपटवाणी का विश्वास किया; क्या करतीं, उनके नख-स्पर्श से हमारी स्मर-व्याधि और तीव्र हो जाती थी ! अब इन बातों को सोचने से ही परम व्यथा होती है, अतः उनके दूत, अब तुम इन बातों को छोड़कर कोई और चर्चा करो !'

'प्रियतम के सखा, तुम फिर आये हो ? तुम्हें हमारे प्रेष्ठ ने भेजा है ? अहो, तुम तो हमारे सम्मान्य हो; कहो, क्या चाहते हो ? तुम हम सबको मधुपुरी ले जाओगे ? पर सौम्य, वे तो नित्य अपनी वधू श्री को हृदय पर धारण किये उसके साथ ही रहते हैं न; फिर वहाँ हम लोगों को ले जाने से क्या लाभ ?'

'वे आर्यपुत्र इस समय मथुरा में ही तो हैं ? सौम्य, वे अपने इस पिता के गृह तथा अपने सखा गोपों का स्मरण करते हैं ? कभी वे अपनी इन दासियों की चर्चा भी करते हैं ? कभी हमारे सिरों पर वे अपनी अगुरु-सुरभि-चर्चित भुजाएँ रखेंगे ?'

'वे आयेंगे ? कभी उनकी विशाल भुजाएँ कन्धों पर पड़ेंगी ? यही तो पूछना है ! इसी के लिये तो प्राण आतुर हैं। भ्रमर कहाँ गया—कौन देखे उसे। सब के नेत्र उद्धव की ओर लगे हैं। नेत्र-प्राण जैसे नेत्रों में, श्रवणों में आ गये हैं। उद्धवजी को अवकाश मिला है। उनका शरीर रामाञ्चित हो आया है। 'यह अनुराग ! यह उत्कण्ठा !'

'भगवान् वासुदेव में आप सबका चित्त इस प्रगाढ़ता से समर्पित है, आप समस्त लोकों के लिये पूजनीय हैं। आप स्वतः पूर्णार्थ हैं। भला, यह अनुराग पाने पर और क्या पाना रह जाता है। दान, व्रत, हवन, स्वाध्याय, संयम तथा और भी नाना प्रकार के सत्कर्मों के द्वारा श्रीकृष्ण की भक्ति पाने का ही प्रयास किया जाता है ! भगवान् उत्तमश्लोक में आप सब की ऐसी सर्वोत्तम नैष्ठिक भक्ति है—मुनिजन भी इसकी कल्पना नहीं कर सकते, यह उनके लिये भी दुर्लभ है। यह परम सौभाग्य की बात है कि पुत्र, पति, स्वजन, गृह आदि के मायिक प्रपञ्चों का त्याग करके आपने उन परम पुरुष का—जो आज श्रीकृष्ण रूप में आये हैं धरा पर, वरण किया ! आप सबने उन अधोक्षज में सर्वात्मभाव प्राप्त कर लिया है। आप तो महाभाग्यवती हैं ! आपने यह विरह जो मेरे सम्मुख व्यक्त किया है, वह तो मुझपर आपका महान् अनुग्रह हुआ ! अब आप अपने उन प्रेष्ठ के सुखदायी संदेश सुनें ! मैं अपने उन स्वामी का अन्तरङ्ग सेवक हूँ, इसी से उनके इन संदेशों को लेकर यहाँ आया हूँ।'

ये मथुरा की राज-सभा के विद्वान् ठहरे ! भला, कोई बात बिना विस्तृत भूमिका के कैसे कह देंगे ! गोपियाँ चुपचाप सुनती रहीं। पता नहीं क्या कहते रहे हैं ये उद्धवजी। जैसे कुछ उनकी समझ में नहीं आया। 'परम पुरुष भगवान् श्रीकृष्ण, उनमें भक्ति, पता नहीं क्या-क्या—ये बातें क्या समझ में आने की हैं; पर अब ये श्यामसुन्दर का संदेश सुनायेंगे ! मुखों पर एक तटस्थता आ गयी थी; अब तो उत्कर्ण हो गयी हैं सब। 'श्याम का संदेश ! मोहन का संदेश।'

'मैंने उन श्रीकृष्णचन्द्र के संदेश को ठीक-ठीक स्मरण कर लिया है। मैं उन्हीं के शब्दों में आपको वह सुनाये देता हूँ !' बड़ी कृपा—उद्धवजी का महान् अनुग्रह ! अपनी ओर से कुछ नहीं मिलायेंगे ! कोई भूमिका न बनायेंगे ! कोई व्याख्या-भाष्य न करेंगे ! मोहन का संदेश ! वह तो उसी रूप में प्राप्त होना ही चाहिये !

श्रीकृष्णचन्द्र ने आप सब से कहा है—"आप सब से मेरा सर्वात्मरूप से वियोग कभी नहीं और हो सकता भी नहीं। जैसे समस्त प्राणियों तथा पदार्थों में आकाश, वायु, अग्नि, जल एवं पृथ्वी व्याप्त हैं, वैसे ही मैं मन, प्राण, पञ्चभूत, समस्त इन्द्रिय एवं त्रिगुणों का भी आश्रय हूँ। मैं अपनी ही मायाशक्ति के प्रभाव से पञ्चभूत, इन्द्रिय एवं त्रिगुण स्वरूप इस जगत् को अपने में ही अपने ही रूप से बनाता हूँ। मैं ही इसका पालन करता हूँ, और मैं ही प्रलय करके इसे अपने में लीन कर लेता हूँ। मेरा यह आत्मस्वरूप ज्ञानमय एवं शुद्ध है। जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति एवं माया के गुणों द्वारा अन्वय-व्यतिरेक क्रम से विचार करने पर इनकी धारणा होती है। इन्द्रियों के द्वारा जो पदार्थ अनुभव में आते हैं, मन जिनका ध्यान करता है, वे सब—यह समस्त दृश्यमान जगत् स्वप्न की भाँति मिथ्या है। अतः मन एवं इन्द्रियों को रोक देना चाहिये, इनके निरोध से ही वास्तविक ज्ञानमय निद्राहीन स्थिति प्राप्त होती है। यही समस्त शास्त्रों का साररूप सांख्ययोग विद्वानों ने बताया है। त्याग, तप, दम, सत्यादि समस्त साधन इसी स्थिति को प्राप्त कराने के लिये हैं, जैसे सभी नदियों का अन्तिम गन्तव्य समुद्र ही है। मैंने स्वयं आप सबसे दूर रहकर यह संदेश उसी प्रकार भेजा, स्वयं आकर नहीं कहा—इसमें भी कारण है; मैं जो आप से दूर हूँ, परम प्रिय होकर भी आपके नेत्रों से दूर हूँ, वह तो इसलिये जिसमें आपके मन में अत्यन्त समीप रहूँ। आप सब निरन्तर मेरे ही ध्यान में लगी रहो, इसी इच्छा से मैंने यह किया है। स्त्रियों का चित्त जितना अपने से दूर हुए प्रेष्ठ में लगा रहता है, उतना वह नेत्रों के सम्मुख उपस्थित प्रियतम में एकाग्र नहीं रहता। मुझमें सम्पूर्ण रूप से मन को लगाकर, दूसरी समस्त वृत्तियों से छूटकर निरन्तर मेरा ही स्मरण करते हुए अविलम्ब आप मुझे प्राप्त कर लेंगी। ठीक उसी प्रकार मुझे प्राप्त कर लेंगी, जैसे मेरे साथ रात्रि में वन में रासक्रीड़ा के समय जब मैं छिप गया, तब मेरा साथ न पाकर कल्याणियों, आपने मेरे गुण, चरित्र का एकाग्र चित्त से चिन्तन किया और मुझे प्राप्त कर लिया !"

'भगवान् श्रीकृष्ण में परम अनुराग है इनका ! इतना विशुद्ध चित्त भला, किसका हो सकता है ! ज्ञान का परमाधिकार—किंतु भगवान् के ये ज्ञानसूत्र बहुत गूढ़ हैं ! पता नहीं अन्तिम बात क्या कह दी है उन्होंने। यह उनकी वैयक्तिक चर्चा है। शेष तो जैसे समस्त ज्ञान—मेरे ही हृदय के भावों को परिष्कृत सूत्ररूप दे दिया है उन सर्वज्ञ ने। ये भोली गोपियाँ—इन्हें समझाना होगा ! भली प्रकार व्याख्या करके समझाना होगा इस गहन तत्त्व को।' उद्धवजी ने गम्भीरतापूर्वक दृष्टि उठायी। जैसे वे कहते हों—'कोई बात नहीं, जो अंश समझ में न आया हो इस संदेश का, उसे मैं समझा दूँगा ! मैं भली प्रकार जानता हूँ इस तत्त्व को।'

'रास में वह श्यामसुन्दर का छिप जाना, वह शरत्पूर्णिमा, वह अन्वेषण और वह उसका मुस्कराते प्रकट होना ! वह छटा, वह रूप, वह कौमुदीस्नात रजनी—भला वह भी विस्मृत होने की है ! तो वह छली उसी प्रकार छिप गया है ! छिपने ही गया है मथुरा और उसी प्रकार प्रकट हो जायगा ! बड़ा चपल, बड़ा नटखट है ! वह इसी में प्रसन्न है तो ऐसा ही सही ! लेकिन ये विद्वान् लोग भी बड़े अद्भुत होते हैं। इन उद्धवजी ने इस सीधी बात के लिये पता नहीं कहाँ-कहाँ से आकाश-पाताल एक कर दिया !' इन गोपियों को उद्धव के तत्वज्ञान से क्या लेना है। श्यामसुन्दर

आयेगा, वह सहसा आ जायगा उस रास-रात्रि के समान—श्रवणों ने, प्राणों ने इससे अधिक सुना ही कहाँ है। सबके कमलमुख कुछ आश्वस्त हो गये हैं। अब उनकी स्मृति व्यवस्थित हो पायी है। अब तो ये उद्धवजी के प्रति बड़ा आदर व्यक्त करने लगी हैं।

"बड़ा अच्छा हुआ कि पापकर्मा कंस अपने अनुचरों के साथ मारा गया। बड़े आनन्द की बात है कि गुरुजनों के साथ अपने सभी उद्देश्यों को सिद्ध करके वे अच्युत इस समय कुशल-पूर्वक हैं। सौम्य, वे गदाग्रज वहाँ की नागरी सुन्दरियों के सलज्ज स्निग्ध हास्य, एवं चपल कटाक्षों से अर्चित होने पर भी क्या हमसे कभी प्रेम करते हैं? वे विलासप्रवीण, श्रेष्ठ स्त्रियों के परम प्रिय उन पुर-सुन्दरियों के हाव-भाव एवं मधुर वाक्यों से पूजित होते होंगे; फिर उनका चित्त उन्हीं में अनुरक्त क्यों न हो जायगा। उद्धवजी आप तो साधु पुरुष हैं; सच-सच बताइये, पुर-सुन्दरियों के मध्य एकान्त-चर्चा करते समय वे गोविन्द कभी हम ग्राम्याओं का भी स्मरण करते हैं? क्या वे उस रात्रि का स्मरण करते हैं, जब पूर्णचन्द्र की धवल ज्योत्स्ना में पुष्पित कुन्द-कानन एवं विकचकुमुद कालिन्दी-सलिल में इस वृन्दावन में अपनी प्रेयसियों के साथ विहार करते घूमते थे वे? रासगोष्ठी में थिरकते हुए उनके चरणों के नूपुर जब क्वणित होते रहते और हम सब उनके साथ उनके मनोज्ञ चरितों का गान करतीं! अरे इन्द्र भी ग्रीष्म के ताप से तप्त वन को बादलों के द्वारा सिञ्चित करते हैं। वे गोविन्द, वे दाशार्ह अपने ही वियोग के ताप में तप्त हम सबों को अपने नव-जलधर-सुन्दर श्रीअङ्ग के दर्शन से जीवन-दान देने क्या यहाँ पधारेंगे? भला, कृष्णचन्द्र क्यों आयेंगे यहाँ! उन्हें राज्य मिल गया। उनके शत्रु मारे गये। अब तो राजकुमारियों से विवाह करके अपने सुहृदों के साथ वे वहाँ आनन्दपूर्वक रहेंगे! अथवा वे महात्मा हैं, आप्तकाम हैं, श्रीपति हैं; हम वनवासियों से उन्हें क्या प्रयोजन या और किसी से उनकी क्या आसक्ति, वे तो नित्य कृतार्थ हैं, कृतात्मा हैं! उद्धवजी, स्वेच्छाचारिणी होने पर भी पिङ्गला ने ठीक ही कहा था कि परम सुख निराशा में ही है। हम यह बात न जानती हों, ऐसा नहीं है, जानती हैं; फिर भी श्रीकृष्ण को प्राप्त करने की आशा छोड़ी नहीं जाती। दुरत्यय है वह। हमारा भी क्या दोष, वे उत्तमश्लोक कहे जाते हैं, कौन उन्हें छोड़ने का उत्साह कर सकता है। वे रमा को नहीं चाहते, फिर भी वे चञ्चला श्री उनके वक्ष से एक क्षण के लिये भी पृथक् नहीं होतीं। फिर यह कालिन्दी, ये गिरिराज, यह वृन्दावन, ये गायें, यह वंशीध्वनि—इन सब में उनके जीवित, जाग्रत् स्मरण नित्य नेत्रों के सम्मुख हैं। बड़े भाई संकर्षण के साथ उन कृष्णचन्द्र ने यहाँ कितनी लीलाएँ की हैं। ये सब बार-बार उस नन्दनन्दन का हमें स्मरण कराते हैं। उन श्रीनिकेत लाल-लाल नन्हे-नन्हे चरणों को हम कैसे भूल जायँ! हम कहाँ समर्थ हैं उन्हें भूलने में! वह मन्द, गयंद के समान झूमती गति, वह ललित उदार हास, वह लीला-विलोकन, वह सुधासनी वाणी, कैसे भूलें—कैसे भूलें हम उन्हें।"

डूब गयी सावधानी, भूल गयी स्मृति, शरीर और स्थिति; कातर कण्ठ क्रन्दन कर उठे—'हे नाथ! हे रमानाथ! हे व्रजनाथ! हे आर्तिनाशन! तुम्हारा यह गोकुल—यह व्रज संकट के समुद्र में डूबा जा रहा है! डूबा जा रहा है! बचाओ! इसे बचा लो, गोविन्द! गोविन्द!'

विस्मृति, क्रन्दन, अश्रु, स्वेद, कम्प, मूर्छा, हास्य, उन्माद, सुधि, व्यङ्ग, प्रार्थना, रुदन—इस असीम अनुराग-सिन्धु का पार कहाँ है। उद्धव इसका कैसे पार पा सकते हैं। यह तो है ही सीमाहीन! अनन्त! अनन्त!

× × × ×

व्रज का प्रेम-पारावार—व्रज—अद्भुत है यह व्रज! नर-नारी, वृद्ध-युवा, बालक-शिशु, गायें-बछड़े, पशु-पक्षी, यहाँ तो तरु-पर्वत तक अनुराग की घनीभूत प्रतिमाओं-से लगते हैं। यह क्षण-क्षण चकित, स्तम्भित करता व्रज! वियोग, आत्मविस्मृति, प्रेमोन्माद—जैसे यहाँ के कण ही उस दिव्य सुधा से निर्मित हुए हैं। एक क्षण में कण-कण में हा-हाकार उत्पन्न करती वियोग की महावाड़व-ज्वाला से संतप्त, मूर्छित, मरुप्राय और दूसरे क्षण जैसे अमरावती का वैभव कंगाल हो गया इस छटा को देखकर। यह मिलन और वियोग, वियोग और मिलन की शाश्वत अनुभूति!

उद्धव ज्ञानोपदेश करने आये थे—छिः ! ज्ञान, कितना तुच्छ, कितना क्षुद्र है वह अद्वय-ज्ञान इस अमृत-सिन्धु के सामने। यहाँ किसी की भी चरण-रज का एक कण—ज्ञान उस कण से अपने को परिपूत करने की वाञ्छा ही कर सकता है। ये बाबा, यह मैया—ज्ञान का परमाराध्य इस वात्सल्य के लोभ में यहाँ ऊखल में बँधने आकर भी भूषित हुआ ! इस स्नेह का बन्धन—अनन्त इसमें आबद्ध होने पर भी उत्फुल्ल होता है ! ये गोप, ये गोप बालक—इन बालकों की सरलता, भोलापन, सौहार्द—वह आनन्दघन, योगिजनैकध्येय इन्हें पीठ पर चढ़ा चढ़ाकर, अपने को कृतार्थ माने तो आश्चर्य क्या। ये गोपियाँ—ये गोप-कुमारियाँ—इनका अनुराग, इनकी तल्लीनता, इनका तदाकार चित्त—किस महा योगी ने इस सौभाग्य की कल्पना की है। युग-युग की समाधि से जिसके श्रीचरणों को अन्तर में एक क्षण के लिये पाने का प्रयास किया जाता है, वही—वही नव-जलधर-सुन्दर इनके मन, प्राण, हृदय, लोचनों में आ बसा है। ये उसे चेष्टा करके भी हटा नहीं पातीं। 'वह कुछ क्षण भूला रहे तो स्नान, गो-सेवा, गृह-कार्य तो तनिक व्यवस्थित हों !' पर उसके श्रीचरण तो आबद्ध हैं—अनुराग के असीम बन्धन में दृढ़ता से आबद्ध हैं यहाँ। वह चाहे तो भी जा कैसे सकता है।

गोपियाँ, गोप-कुमारियाँ—उद्धव को सबसे अधिक इन्हीं की कृपा प्राप्त हुई है। इन्हीं से वे कुछ सुन—समझ सके हैं। बाबा—मैया—वे वात्सल्य की मूर्तियाँ, उनका स्नेह, उनका लालन—वे तो समझते हैं, 'यह उद्धव अभी बच्चा ही तो है ! श्याम की ही भाँति बच्चा।' भला, बाबा—मैया से क्या पूछा जाय, क्या कहा जाय। गोपगण भी उन्हें उसी स्नेह का दान करते हैं और बालक—भोले चञ्चल, नित्य आत्मविस्मृत गोप-बालक—ये सब तो सदा 'कनूँ बुलाता है ! वह कन्हाई आता है ! वह वंशी बजी !' इनका प्रेमोन्माद थकित होना जानता ही नहीं। इनका उन्मुक्त हास्य, उन्मद क्रीड़ा और जब वियोग जगेगा—जैसे शरीर में प्राण ही न हों ! ये किसी ओर देखकर भी जैसे कुछ नहीं देखते, नहीं सुनते ! उस समय तो इन्हें देखकर पाषाण भी द्रवित हो उठते हैं। उद्धवजी-जैसे गम्भीर-प्रकृति परम विद्वान, ये बालकों के साथ कहाँ उछल सकते हैं। कैसे खेल सकते हैं।

गोपियाँ—गोपकुमारियाँ—सबसे अधिक चकित किया है इन्होंने उद्धवजी को। 'बाबा, मैया—वे तो वात्सल्य की मूर्ति हैं। गोप बड़े सरल हैं, वे सभी से स्नेह करते हैं और गोप-बालक—इन भोले बालकों में अनुराग असीम न बने तो बनेगा कहाँ; पर ये स्त्रियाँ—स्त्रियों में ममत्व, गृहासक्ति ही तो प्रधान होती है; कहाँ ये वनवासिनी ग्राम्या स्त्रियाँ, इनके लोक में सुने जानेवाले अनियमित आचार और कहाँ ये गोपकुमारियाँ—इनका यह परम पुरुष श्रीकृष्णचन्द्र में दृढ़तम ऐकान्तिक भाव ! श्रीकृष्णचन्द्र तो हैं ही समर्थ ! बिना जाने भी यदि औषध का नियमपूर्वक सेवन हो तो वह रोग-नाश कर ही देगी। क्या हुआ जो ये श्यामसुन्दर के परम तत्व का मनन नहीं करतीं ! ये निरन्तर उन्हीं में मन लगाये उन्हीं सच्चिदानन्दघन का चिन्तन तो करती हैं।'

उद्धवजी का गोपियाँ सत्कार करती हैं। ये उन्हें श्रीकृष्णचन्द्र के चरित सुनाते हैं और उनसे सुनते हैं। उनके भावोन्माद को निकट से देखने का सौभाग्य प्राप्त होता है। अब तो प्रथम ही उद्धवजी अभिवादन करते हैं उन्हें। वे संकुचित होती हैं, मना करती हैं—वे महिमामयी, वे त्रिभुवनवन्दनीया—उद्धवजी कैसे छोड़ दें यह सौभाग्य। उनका हृदय बार बार कहता है—"पृथ्वी पर शरीर-धारण का यही परम फल है, जो गोप-सुन्दरियों ने प्राप्त किया है। निखिलात्मा श्रीगोविन्द के श्रीचरणों में उनका भाव रूढ़ हो गया है, जिस भाव को संसार के भय से भीत मुनिगण और हम लोग भी पाना चाहते हैं। इस भगवत्कथामृत-रस के साथ ब्राह्मणकुल में जन्म लेने की क्या तुलना !" ब्राह्मण के श्रौतादि कर्म कहाँ और कथा का यह दिव्य रस कहाँ।

'इन स्त्रियों की महिमा देखो, कहाँ तो ये आचार-त्यक्ता वनवासिनी नारियाँ और कहाँ परम पुरुष श्रीकृष्ण में इनका यह अनन्य अनुराग ! ठीक ही है—जैसे अनजान में भी अमृत के सेवन से समस्त रोग नष्ट हो ही जाते हैं, वैसे ही निरन्तर किसी भी भावसे भजन करने पर वे परम पुरुष कृपा करते ही हैं। उनका सांनिध्य प्राप्त ही होता है।'

भगवान् की कृपा का यह प्रवाह—'यह श्रीकृष्ण की ऐकान्तिक कृपा तो उनमें सतत अनुरागिणी पद्मा को भी प्राप्त नहीं हुई; फिर पद्मसुरभिवाली देवाङ्गनाओं को तो वह क्या प्राप्त होनी थी, जो कृपा इन गोप-सुन्दरियों पर हुई। रास-क्रीड़ा में श्रीकृष्ण की भुजाओं का आलिङ्गन करके, उन भुजाओं को स्कन्धों पर रखकर जो परमानन्द इन्होंने पाया, वह किसी अन्य को कहाँ लभ्य है।'

'मैं—मैं तो चाहता हूँ कि इन गोप-बालाओं की चरण-रेणु प्राप्त करने वाली इन लता गुल्मों, तृणादि में से ही कुछ होकर वृन्दावन में पड़ा रहूँ। मुझे तो इनके चरण-रज चाहिये, जिन्होंने परम दुस्त्यज स्वजन एवं श्रेष्ठ आर्य-मार्ग को ठुकराकर भी उन मुकुन्द में ऐसा निष्ठा प्राप्त की, जिनको श्रुतियाँ ढूँढ़ती ही रहती हैं।

'भगवती लक्ष्मी जिन श्रीचरणों की नित्य सेवा करती हैं, आप्तकाम भगवान् ब्रह्मा, भगवान् शिव आदि जिनकी अर्चना करते हैं, सनकादि आत्माराम मुनिगण, परम योगेश्वर जिनका अन्तःकरण से निरन्तर ध्यान करते हैं, रास-गोष्ठी में भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के उन्हीं चरण-कमलों को अपने वक्ष पर रख कर, उनका आलिङ्गन करके इन गोप सुन्दरियों ने अपने ताप का निवारण किया है! इनके सौभाग्य, इनकी श्रेष्ठता की क्या कल्पना करे कोई।'

'मैं तो नन्दव्रज की इन भुवनवन्द्या नारियों के श्रीचरणों के रज की वन्दना करता हूँ! उन नारियों के पदरज की वन्दना—जिनके कण्ठ से निकला श्रीहरि की कथा का गान त्रिलोकी को पवित्र करता रहता है।'

वन्दना—गोप-बालाओं के पद-रज की वन्दना—पद-रज की ही तो वन्दना की जा सकती है। वे सम्मुख पदवन्दन करने देने से रहीं। उन्हें संकोच में डालने का महापराध करने का साहस भी कैसे हो। ये वृष्णिकुल के मन्त्री, देवगुरु बृहस्पति के साक्षात् शिष्य, परम ज्ञानी उद्धव—और अब ये जब गोप-कुमारियाँ निकल जाती हैं कहीं से—उनके चरण-चिह्नों पर मस्तक रखते हैं, लोटते हैं उस रज में। फूट-फूटकर रोते हैं। विह्वल होते हैं ये धूलि-धूसर, परम कातर उद्धव—यह व्रजधरा है न!

× × × ×

कुछ क्षण—कुछ क्षण ही तो जैसे व्यतीत हुए हैं अभी और उद्धव कहते हैं कि उन्हें मथुरा जाना है! उन्हें कई मास हो गये व्रज में आये! श्रीकृष्णचन्द्र प्रतीक्षा करते होंगे! कई मास—कहाँ लगते हैं ये कई मास! कब प्रभात हुआ, कब गया दिन, कब रात्रि चली गयी—कहाँ पता लगा। श्रीकृष्णचन्द्र की चर्चा—उद्धवजी श्याम की चर्चा करेंगे! मन तो वैसा ही प्यासा है। वैसे ही दौड़ आते हैं सब। व्रजवासियों को कुछ क्षण-से ही तो बीते हैं ये कुछ मास! लेकिन उद्धवजी को जाना है—श्याम प्रतीक्षा करता होगा उनकी। ये वृष्णिकुल के मन्त्री हैं, मथुरा में प्रतीक्षा तो होती होगी ही! बाबा ने, मैया ने, गोपों ने, बालकों ने, गोपियों ने, कुमारियों ने—कभी किसी ने और कभी किसी ने रोक लिया—कहाँ तक इस प्रकार रोका जा सकता है! जब अपना ही वह मथुरा जा बैठा, ये उद्धवजी कब रहेंगे यहाँ। इनको अब रोकना भी कहाँ उचित है। रथ प्रस्तुत हो गया है! आज जायँगे ये!

उद्धवजी—कितना निष्ठुर होता है कर्तव्य! उन्हें जाना है, कर्तव्य है जाना! ये बाबा, यह मैया, ये गोप, ये बालक, ये गोपिकाएँ, यह वृन्दावन—यहाँ एक तृण तक बनकर रह जाने के लिये उनका हृदय क्रन्दन कर रहा है और जाना है—जाना है यहाँ से!

उद्धवजी आज जा रहे हैं—मथुरा जा रहे हैं—श्याम के समीप! 'यह पटुका दे देना, भैया!' 'यह नवनीत उसकी परम-प्रिय कामदा का है।' 'यह मयूर-पिच्छ....' 'यह गुञ्जा की माला अपने हाथों आप पहना दें उन्हें।' 'ये नन्हे पुष्प—ये उसकी अलकों में उलझकर बड़े सुन्दर लगेंगे।' उपहार—कौन कहता है कि ये उपहार हैं! यह हृदय का घनीभूत स्नेह—ये क्या पदार्थ हैं! बाबा, मैया, गोप, गोप-बालक, गोपियाँ, बालिकाएँ—सभी के अपने-अपने उपहार हैं—अपने ढंग के और

सभी को देने की अपनी पद्धति है ! दे सकेंगे ये उपहार इन पद्धतियों से उद्धवजी ? वे तो रुद्ध-कण्ठ, साश्रु-नयन देख भर रहे हैं। चुपचाप मस्तक झुकाये, विह्वल-वदन।

'कृष्णचन्द्र प्रसन्न रहे ! तनिक अपना ध्यान रखे ! वह हमारी कोई चिन्ता न करे ! प्रसन्न रहे मोहन ! प्रसन्न रहे !' संदेश—संदेश के शब्द, भाव चाहे कितने भिन्न हों; एक ही तो संदेश है सबका ! यही एक बात तो कहनी है पूरे व्रज को !

उद्धव जा रहे हैं—इस पूरे व्रज का संदेश, उपहार लिये आज उद्धव जा रहे हैं ! बाबा ने रथ पर बैठा दिया है उन्हें ! बार-बार उतरना, बार-बार मिलना, बार-बार वन्दन और अब किसी प्रकार रथ चला है। रथ के साथ ही तो चला है यह व्रज ! मैया मूर्छित हो गयी और ये दौड़ आये उद्धवजी ! मैया—मैया भी चेतना में आकर उन्हें विदा कर रहीं हैं ! उन्हें मोहन के पास जाना चाहिये। वह प्रतीक्षा करता होगा !

उपनन्दजीने सम्हाला अपने को ! कितनी दूर तक आ गये व्रज के लोग। ये गोपियाँ, ये पीछे लगी आती बालिकाएँ—अब तो यहीं से विदा देना चाहिये सबको ! विदा—व्रज से विदा ! और बिचारे उद्धवजी बार-बार विह्वल होते, बार-बार एक-एक के पदों पर गिरते हैं तो क्या आश्चर्य !

अश्व आगे नहीं बढ़ते ! उद्धव मुड़-मुड़कर देखते हैं—'कोई बुला ले ! कोई पुकार ले ! कोई कहे एक दिन और रुकने को !' पर मथुरा में कृष्णचन्द्र प्रतीक्षा करता होगा।

'वह रथ का ऊपरी कलश ! वह ध्वजा ! वह रथ से उड़ती धूलि गगन में ! चला गया—रथ चला गया ! उद्धवजी भी गये !' जैसे आज ही कन्हैया व्रज से मथुरा गया है ! वही व्याकुलता, वही वेदना और मूर्छा.....!

× × × ×

'उद्धव आये ! उद्धव व्रज से आ रहे हैं !' पीतपट भूमि पर गिर गया ! वनमाला उलझ गयी ! मयूर-मुकुट खिसककर और तिरछा हो उठा। दोनों भुजाएँ फैलाये श्यामसुन्दर दौड़ा।

उद्धवजी आ रहे हैं ! धूलि-धूसर सर्वाङ्ग—व्रज-रज में विह्वल होकर बार-बार लोट-पोट हुए, डगमग पद, रोमाञ्चित शरीर, नेत्रों में अश्रुधारा, जैसे कुछ देखते ही नहीं ! लाल-लाल लोचन, चकित-से इधर-उधर देखते—'कहाँ किस अपरिचित स्थान में आ गये !' और ये प्रेमभूमि के पावन प्रसाद से परिपूत उद्धवजी—श्रीकृष्णचन्द्र ने भर लिया भुजाओं में !

उपहार, संदेश, उलाहने, वर्णन—यह सब आज की बात तो नहीं है। यह तो जीवन का मधुरतम संदेश है। यह तो अब सदा ही चलता रहना है। आज तो उद्धवजी विभोर हैं और उन्हें हृदय से लगाकर यह नीलसुन्दर भूल गया है अपने को भी। यह श्याम के शरीर में लगी उद्धव के अङ्गों की व्रज-रज, यह रोमाञ्च और यह अश्रुधारा—यह मिलन.....।

—❀⊂❀⊂❀—

श्रीराधा

'या शेखरे श्रुतिगिरां हृदि योगभाजां
पादाम्बुजे च सुलभा व्रजसुन्दरीणाम्।
सा कापि सर्वजगतामभिरामसीमा
कामाय नो भवतु गोपकिशोरमूर्तिः॥'

—श्रीलीलाशुक

श्रीराधा—कीर्तिकुमारी—श्रीवृषभानु-नन्दिनी—सौन्दर्य, सरलता, अनुराग की यह सुकुमार-मूर्ति और यह वियोग, यह महावाडव-प्रचण्ड वियोग! माता-पिता क्या करें, क्या बस है उनका! क्या छिपा है उनसे! उनकी यह हृदय-कलिका—यह अब जैसे इस विश्व में रहती ही नहीं। जहाँ देखेगी—कमल-लोचन वहीं स्थिर रहेंगे। एकटक अपलक निहारती रहेगी, चाहे जहाँ देखकर भी कुछ देखती है? कहाँ कुछ देखती है, कहाँ सुनती है, कहाँ कोई अनुभव करती है। यह तो जैसे उन्मादिनी हो गयी है। माता-पिता की व्यथा का पार नहीं। सखियाँ घेरे रहती हैं। कोई बलात् स्नान करा दे तो स्नान, मुख में कुछ दे दे तो भोजन और इस स्नान और भोजन का भी इसे क्या पता लगता है? 'श्याम! श्यामसुन्दर!' इसके अधर काँपते-से ही रहते हैं। कुछ कहती-सी—कुछ जपती-सी रहती है। क्या? ध्वनि कहाँ निकल पाती है।

श्रीराधा—यह उन्मादिनी कीर्तिकन्या, प्रातः अरुणोदय जैसे एक चेतना देता है। कुसुम, दधि, अक्षत, दूर्वाङ्कुर, चन्दन—साश्रुनेत्र सखियाँ सजा देती हैं। यह अपने गवाक्ष पर जब उत्फुल्लनेत्र आ बैठती है—माता के प्राणों में एक टीस-भरी क्षीण शान्ति-रेखा खिंच उठती है और फिर हृदय चीत्कार कर उठता है—'हाय' उनकी यह जाह्नवी-सी पावन-कन्या किसकी प्रतीक्षा कर रही है! यह पगली—पगली ही हो गयी!' किसलय-अरुण कर कुसुम बिखेरते हैं, दृगों में हास्य आता है। लाजा और दधि-चन्दन के बिन्दु—गायें चरने जा रही हैं। उनको लेकर गोपकुमार चले जा रहे हैं भवन के नीचे से। पर उन गोपकुमारों के आगे झूमता, घूमता, इधर-उधर अपने विशाल दृगों से चपल-चपल देखता वह मयूर-मुकुटी—अर्चा का वह परम अधिकारी—पर श्रीराधा के कर और किसपर कुसुम-वृष्टि कर सकते हैं। किन दृगों की कोर ने यह आनन्द-पुलक, यह सलज्ज-स्मित व्यक्त कर दिया है इन कीर्तिकन्या में। माता—वृद्धा गोपियाँ कहती हैं—'भोली बालिका पगली ही हो गयी।'

एक बार फिर—वे ही रागारुण दिशाएँ, गोरज-पूत कपोत-रोम-कर्बुर कपिश गगन, वही गायों की हुंकार और एक बार फिर उल्लास आता है इस उन्मादिनी में। फिर रत्न-थाल लाजा से पूर्ण होता है। फिर गवाक्ष से सुरभित सुकुमार सुमनों की वर्षा होती है। यह सब तो ठीक; पर गोपकुमार तो इतने धृष्ट नहीं हैं। वे सब तो इसका अपनी सगी अनुजा के समान सम्मान करते हैं। कितने क्षीण, कितने म्लान हो गये हैं सब अपने सखा के जाने से और सायं गवाक्ष में सुकुमार पाटल—कोई वन-कुसुम पता नहीं कहाँ से निक्षिप्त हो उठता है। दासियाँ—जब दूसरों की सावधानी ही कुछ न बता पायी तो बेचारी दासियाँ ही हैं न! वह कुसुम—वह अम्लान सुरभित कुसुम—अवश्य वह कोई देवप्रसाद ही होता है। उसे कितने आदर, कितने उल्लास से धारण करती हैं श्रीवृषभानु-नन्दिनी अपने मस्तक पर।

'भगवती महामाया भद्रकाली! दयामयी जगदम्बा! इस बालिका पर उनका अपार वात्सल्य है। इसने उनकी आराधना की और अब तो वे ही इस अबोध कन्या की रक्षा करती हैं।

उनका अनुराग, उनका स्नेह ही तो इस नवनीत की पुतली को इस महादाह में बचाये हैं। जब भी यह अधिक त्रस्त, विच्छिन्न होती है, भगवती का वात्सल्य मूर्त हो उठता है।' माता कीर्ति के लिये अपना समाधान है। महामाया भगवती उमा ही तो उनकी कन्या को अलक्ष्य रहकर भी पुष्पाभरण भूषित कर देती हैं। वे जगज्जननी, इस बच्ची पर परमवात्सल्य है उनका।

सखियाँ—सखियों की वेदना द्विगुण हो गयी है। उनकी यह प्राणाधिका अधीश्वरी—यह अब अपने आप में रहती ही नहीं। इसे जैसे सखियों की, संसार की, शरीर की स्मृति ही नहीं होती। यह म्लान वदन, यह अश्रु-प्रवाह—यह विवर्ण देह—सखियों के हृदय को जैसे कोई मसल रहा हो बाहर करके। और यह प्रसन्न होती है, प्रमुदित होती है, खिल-खिलकर हँसती है; जीवनदान-सा मिलता है बालिकाओं को।

श्रीराधा की यह वेणी, यह कुसुम-शृङ्गार—सखियाँ क्या इतना नहीं पहिचानतीं कि किन करों ने केशों में ये कुसुम लगाये हैं; इतनी ढीली, शिथिल वेणी कौन बाँधा करता है, किस कला के प्रतीक हैं ये कुसुमाभरण! ईर्ष्या—अमर्ष—इन बालिकाओं ने कहाँ जाना है इसे। सदा से ही तो ये इस प्रयत्न में रही हैं कि उनकी यह प्रिय सखी प्रसन्न रहे। इसी का आनन्द तो उनका जीवन है और यह कीर्तिदा-कुमारी—यह तो वितरित करने के लिये ही जैसे उनके मध्य आयी। इसने तो सदा सहेलियों को आगे रखा—सदा, सब समय। यह न होती—वे रसिक-शेखर क्या देखते किसी ओर। इसी की तुष्टि के लिये उनके कमल-लोचनों की कोर घूमती रही और यह तो जैसे नित्य दूसरों के लिये ही अनुरोधमयी—अनुग्रह-मूर्ति रही है। आज—आज भी क्या कृपा प्राप्त है किसी को उन भुवन-मोहन की और जो प्राप्त है—इसी भावमयी का अनुग्रह नहीं है, किस कृतघ्न हृदय में यह भाव उठेगा। किंतु—किंतु यह जो आत्मलीना हो गयी है। यह जो अपने को भूल ही-सी गयी है। इसने जो सर्वथा ही बाह्य दशा से निवृत्ति ले ली है—प्राण क्रन्दन करते हैं। बालिकाएँ निरन्तर व्यस्त रहती हैं—किसी प्रकार उनकी सखी को सुख मिले। वह प्रसन्न रहे। उसके ये अर्धोन्मीलित दृग, काँपते अधर—ओह!

⊠ ⊠ ⊠ ⊠

श्रीराधा—सरल, भावमयी राधा, पता नहीं क्या-क्या उठता रहता है मानस में, पता नहीं क्या-क्या नेत्रों के सम्मुख आता रहता है—

'वे कमल-लोचन, कितने चपल, कितने अनुरागपूर्ण! कितना सुधास्निग्ध कण्ठ—'तुम कहाँ रहती हो? मैंने तो नहीं देखा कभी तुम्हें? क्या नाम है तुम्हारा?' कितना ममत्व था वाणी में। खेलते-खेलते भाई के साथ नन्दगाँव चली गयी थी उस दिन। पता नहीं भैया श्रीदाम कहाँ गया। नन्दद्वार से तनिक दूर एक ओर प्रतीक्षा ही तो करनी थी। वह मयूर-मुकुट, वह पीतपट, वह वह वनमाला, वह चपलतापूर्ण सौहार्द—वे निकले द्वार से। मुझे संकुचित, भीत देखा होगा—दौड़ आये थे। किसी को अपना लेना ही तो उनका स्वरूप है। कितनी शीघ्रता से मेरा हाथ ले लिया था उन्होंने अपने करों में। यह हाथ—यह तो उसी दिन उन हाथों में चल गया। उनका आग्रह क्या टाला जा सकता है? वे अनुरोध करें और टाल सके—कहाँ किस हृदय में शक्ति है। भीतर ले गये, मैया के समीप और मैया—वह तो मैया ही है न! उसने जो वात्सल्य दिया, जिस प्रकार अङ्क में बैठाया, जिस प्रकार वेणी गूथी····' जैसे एक-एक क्रिया मूर्त बन गयी है।

"उनके साथ वह क्रीड़ा के दिन! कितना सम्मान करते वे। उनके सखा—उनके सभी सखा तो सम्मान करते, स्नेह करते—जैसे सगी बहिन है वह सबों की। कितने स्नेहमय, कितने मञ्जु हैं सब—सब भाई ही तो हैं। सखियाँ चपलता करतीं तो वे भी चिढ़ा लेते उन्हें। परस्पर के विवाद का निर्णय कराने आते और कितने मान से उनका निर्णय मान लेते। और वे—उनके सखा कहते 'राधा से कह दूँगा।' और एक बार जैसे सचमुच संकुचित हो उठते। 'कह दो!' ये उनके धृष्ट वचन क्या भीतर से उठ पाते थे।" जैसे आज भी चल रही है वही बाल-क्रीडा।

'राधा भाभी ! राधा भाभी !' भद्र बड़ा चपल है। वह चाहे जब चिढ़ाने लगता है और नन्हा तोक—वह तो जब ताली बजाकर सम्मुख आकर चिढ़ाने का प्रयत्न करता है, रोष भी नहीं आ पाता उस पर। उसे तो तब भी स्नेह से पुचकारने को ही हृदय चाहता है। सब बड़े वैसे हैं। सब हँसते हैं। ये सखियाँ भी तो मुस्कराती हैं। वे भद्र से झगड़ने लगते हैं और तोक—भला, तोक को कौन डाँट सकता है! वह उनका लाड़ला स्नेहमय छोटा भाई—उसे तो हँसकर ही टाला जा सकता है। उसके चिढ़ाने में भी कितना रस है। क्रीडा चल ही तो रही है। यह क्रीडा भी कभी-कभी क्या गत हुआ करती है।

'वे कलशियाँ फोड़ देते हैं। जल लाने नहीं देते। झूठ ही सब उनका परिहास करती हैं। उनकी अनुकम्पा—उनकी उदारता—उनके स्पर्श के लिये आकुल प्राणों को वे खीझ उठाकर भी परितृप्त कर देते हैं। उन्होंने क्या कलशी छीनने का नाट्य नहीं किया है? उनकी काँपती-सी अङ्गुलियाँ—भला, कहीं कठोरता हो सकती है उन मृदुल करों से। उनकी इच्छा—उनका प्रयास और असफल हो जाय—सखा उनका परिहास करें, प्राण इसे कैसे सह सकेंगे? उनका तो नाम होता है और अपने ही कर अपनी कलशी लुढ़का देते हैं। क्या दोष है उनका? ये सखियाँ कितना नेत्र बनाती हैं। उनकी खीझ—उनका चिढ़ना भी कितना मधुर है।' वह स्पर्श तो अब भी सीधे प्राणों को पुलकित कर रहा है।

'वे बछड़े चराने जाने लगे हैं। सिर पर दही की मटकी धरे, सखियों के मध्य इधर-उधर किसे ढूँढ़ते हैं आकुल लोचन? वे आयें—कहीं से, किसी कुञ्ज से दौड़कर आयें। मार्ग रोक लें और छीनकर धन्य कर दें इस मटकी को।' कितनी स्मृतियाँ—नहीं, नहीं, ये क्या स्मृतियाँ हैं? ये नेत्रों के सम्मुख, मन में, प्राण में नित्य-मूर्त आनन्द-क्रीडाएँ—जाग्रत्-क्रीडाएँ ही तो चला करती हैं ये। 'वह हेमन्त की भद्रकाली-पूजा, वह उनका वस्त्र लेकर कदम्ब पर जा छिपना और कितना अनुग्रह—व्रत में त्रुटि हो रही थी, जल में नग्नस्नान का अपराध हो रहा था, नारियों के अधौत वस्त्र उठाये उन्होंने और प्रायश्चित्त कराके पूर्ण कर दिया आराधना को। वे हैं ही अनुग्रहरूप—कितने सबेरे उठे उस दिन! कितना कष्ट किया।' उनके कुछ अपराध भी हैं, यह कहाँ आता है इस हृदय में।

'वे रास की रात्रियाँ! मयूर-मकुट लहराता और झुकता। कितना सम्मान दिया उन्होंने। कृत्रिम रोष का नाट्य भी सह्य नहीं था उन्हें। भ्रुकुटि बंक हुई और वे जैसे अपराधी ही हों। उनका असीम अनुराग और अनुकम्पा; क्या-क्या नहीं किया। क्या-क्या नहीं करते अपनों को प्रसन्न करने के लिये वे।' अनन्त अनुभूतियाँ हैं। अपार लीलाएँ हैं और वह मधुयामिनी—उसके संस्मरण से तो त्रिभुवन के प्राण पवित्र होते हैं।

'आज—आज भी तो वे ही भुवन-मोहन हैं सम्मुख। वही तो स्मित-शोभित छटा है उनकी। वही तो झुकता आता है मयूरपिच्छ। वे वेणी गूँथते हैं। कुसुमाभरणों से अङ्ग सजाते हैं। 'आज्ञा!' कितना मान देते हैं ये हृदयधन।' नेत्र जहाँ जाते हैं, वहीं चन्द्रमुख हँसता, वहीं मयूर-पिच्छ लहराता। मुरली की मादक स्वर-लहरी गूँजती ही रहती है श्रवणों में और यह तुलसी की पावन सुरभि—यह उनकी वनमाला की भुवन-पावन दिव्य गन्ध।

"वे नहीं हैं व्रज में! वे मथुरा चले गये। दूर-दूर हो गये वे हृदयेश!" एक स्मृति—एक विषमय, ज्वालामय स्मृति भी है। जैसे एक पल में सम्पूर्ण रक्त सूख जाता है, शरीर की अस्थियाँ तक सूख जाती हैं। अश्रु—कम्प—निःश्वास—मूर्छा और उत्ताप! जैसे समस्त जगत् प्रलय की महावह्नि में जला जाता है। भस्म हो रहा है ब्रह्माण्ड। हाहाकार मचता है सखियों में, कुररी-सी चीत्कार करती दौड़ती है वे स्नेहमयी जननी कीर्तिदा और बाबा वृषभानु जी सुनते ही मूर्ति-से रह जाते हैं। उनकी बच्ची—उनकी वियोगमयी कुसुम-कलिका। क्या देखना है उन्हें! उनके शरीर से जैसे चेतना पहले भाग जाना चाहती है।

'उद्धवजी, आप यहाँ देख भर लें।' सखियों ने दूर से दर्शन भर करा देना चाहा था उस दिन। यह वनमाला—उसकी दिव्य गन्ध, श्यामसुन्दर के अङ्गों की सुरभि लिये ये पीतपट,

उद्धव व्रज में उस हृदयहारी के उपकरणों से ही तो अलंकृत हो आये थे। यह सुरभि—यह नासिका से जाकर हृदय को मथित करती सुरभि ! गोपकुमारियाँ क्या इसे भूल सकती हैं। तनिक-सी पलकें हिलीं—पता नहीं देखा, नहीं देखा और सखियों का क्रन्दन, दासियों की व्यथाभरी चीत्कार—उद्धवजी ने दूर से ही भूमिपर मस्तक रख दिया था उस दिन।

'यह स्मृति—यह हालाहल-भरी स्मृति भी आती ही है और तब—पर कोई सुधास्निग्ध स्वर मूर्छित प्राणों को पुकारता है। किसी का चिर-परिचित हृदयहारी स्पर्श जीवन को सहलाता है। कोई कहता है—'मैं तो यह रहा। क्या आज्ञा है ?' और तब वही उन्माद-भरी भङ्गी, वही सलज्ज हास्य, वही स्वेद-धारा।

यह संयोग में वियोग—यह रसराज के अङ्क में महाभाव की मञ्जु मङ्गल-मूर्ति—यह वियोग की महाज्वाला और संयोग की अमर ज्योत्स्ना की पावन प्रतिमा। मन एवं बुद्धि से परे यह प्रेम की अतर्क्य महिमामयी मूर्ति—त्रिभुवन इन पद्मारुण अमल कोमल पावन-पदों में प्रणत होकर धन्य हो जाता है।

—❀⊃❀⊃❀—

भद्र

"त्वच्छैशवं त्रिभुवनाद्भुतमित्यवैमि
यच्चापलं च मम वागविवादगम्यम् ।
तत् किं करोमि विरणन्मुरलीविलास-
मुग्धं मुखाम्बुजमुदीक्षितुमीक्षणाभ्याम् ॥'

—लीलाशुक

'भद्र ! कहाँ है मेरा भद्र !' वह दिन—वह दारुण दिन, बाबा मथुरा से लौटे व्रज में और श्याम—श्याम नहीं आया ? नहीं आया श्याम ? दावाग्नि-दग्ध कानन भी इससे कम दयनीय होता है। मैया—एक पल में ही तो उसका समस्त शरीर जैसे रक्तहीन हो गया था और वह भूमि पर गिरी—ओह, कनूँ मैया को देख सकता इस दशा में। 'मैया !' किसके सुधास्निग्ध स्वरों ने उसके प्राणों को नवजीवन दिया था ? पर—पर भद्र कहाँ ? 'कहाँ है मेरा भद्र ?' भद्र तो कभी जान ही न सका कि उसका भी और कोई घर है, उसकी और भी कोई मैया है। व्रजेश तो यहाँ हैं—वह बाबा के पास भी नहीं, कहाँ गया ? कहाँ गया मथुरा से आने पर ? आज क्या भद्र भी न आया ? वह भी अपने घर गया ? भद्र नहीं और तब श्याम ? श्याम मथुरा–!' मैया की व्यथा, मूर्छा, आर्ति कौन कहे !

'भद्र गोष्ठ में होगा !' कौन कहता है प्राणों के भीतर से ? कोई कहता है—'भद्र गोष्ठ में होगा ! गोष्ठ में ही होगा ! भद्र गोष्ठ में होगा और कृष्ण—कृष्ण भद्र को छोड़कर क्या टिकता है ? भद्र, तोक, श्याम—सब गोष्ठ में होंगे ! बड़े चञ्चल हैं, बड़े ही चपल हैं सब ! गायें—गायों में ही इन सबके प्राण जैसे बसते हैं। मथुरा से—इतनी दूर से आये, थके होंगे, भूख लगी होगी—सब सीधे गोष्ठ भाग गये ! इन सबों को अपनी भूख, अपनी प्यास का पता कहाँ रहता है। श्याम ! भद्र ! अरे कहाँ हो सब ?' मैया तो उन्मादिनी-सी दौड़ पड़ी थी गोष्ठ की ओर।

'श्याम नहीं जायगा !' भद्र—कमललोचन, स्वर्णगौर, नीलाम्बर-उत्तरीय, पीतपट-परिधान, कुसुम-कोमल भद्र—एक क्षण—एक पल भी कहाँ लगा था ! जैसे वह चम्पकवर्ण गाढ़ नील-लोहित हो गया हो; अङ्गयष्टि गिरी, झुकी, सूखी और—'भद्र ! भैया भद्र !' कनूँ ने ही तो उसके करों को ले लिया था अपने करों में। श्याम के विशाल दृगों में ही तो अश्रु भर आये थे !

'भद्र, तू रोता है ? हँसी में भी रोता है !' कनूँ—बड़ा नटखट है यह कन्हैया। भला, यह भी कोई हँसी है कि वह कहे कि व्रज नहीं जायगा वह। गोविन्द—गो, गोप, गोव्रज का वह इन्द्र—वह व्रज छोड़कर क्या नगर में निवास करेगा ! मार्ग भर किसका मयूर-मुकुट लहराता रहा ! कौन मनुहार करता रहा भद्र की। नहीं बोलता—तू नहीं जायगा न, नहीं बोलता मैं तुझसे !' और तब मानी भद्र को मनाने में किसके कोमल कर व्यस्त बने रहे मार्ग भर !

'कन्हाई नहीं आया !' कौन कहता है ? कौन कहता है यह ? भद्र इसे देखने के योग्य है क्या ? श्याम नहीं आया—मार्ग में क्या हुआ, नन्हीं सुकोमल स्मृति में कहाँ तक क्या-क्या रहे। मथुरा का वैभव, वहाँ का सम्मान—कनूँ वहीं रह गया ! भद्र क्या मुख लेकर मैया के पास जाय ! कनूँ ! कनूँ ! उसका प्राणप्रिय भाई कनूँ—नहीं आया, नहीं आया वह !' भद्र—धूलि में सना, म्लान यह स्वर्ण-कुसुम !

'भद्र !' वही स्वर तो है ! वही है—भला, प्राण कहीं भ्रान्त हो सकते हैं इसे परखने में। कामदा पुकार रही है ! नन्दा हुंकार कर रही है ! धर्म गर्जन कर रहा है। 'अच्छा, अच्छा तो तू गोष्ठ में छिपेगा !' और भद्र कहाँ दुर्बल है कन्हैया से कि पीछे रह जाय वह।

'भद्र ! श्याम ! तोक ! कहाँ हो सब ?' यह धूलि से सना अङ्ग, यह गोमय से लथपथ वस्त्र, ये पलकों में उलझे उज्ज्वल बिन्दु और यह किलकता, हँसता, कूदता भद्र ! मैया इसे क्या सहज पकड़ लेगी। मैया पगली हो गयी और भद्र—यह क्षण में मूर्छा, और फिर आनन्द किलक—यह भद्र ! यह क्या अपने में है ? यह क्या पागल है ? कौन जाने सत्य क्या है; पर कितनी कठिनता से मैया ले आयी इसे उस दिन गृह में ! इसे—अकेले इसे ही लाने में क्या मैया को कठिनता हुई ?

× × × ×

"मथुरा से आया है यह रथ !" उस दिन कितनी प्रसन्नता हुई थी। 'मथुरा से रथ—मथुरा, कन्हैया की मथुरा से—श्याम आया होगा !' कितनी आशा, कितने उल्लास से भद्र दौड़ा था उस दिन !

'उद्धव—वे ही नील अङ्ग, वही मुकुट, वही पीताम्बर—हुं, क्या हुआ इससे ! यह तोक—यह तोक की अङ्गकान्ति कहाँ पाये उद्धव और कनू का पीतपट—भद्र और श्याम में कब निश्चय हो सका कि कौन-सी कछनी किसकी है ! नित्य ही तो दीनों के वस्त्र बदलते रहे हैं और मयूर-पिच्छ—वह तो श्याम के सिर पर ही शोभा देता है, या जब अपने करों से कनू अपने छोटे भाई को सजा देता है ! उद्धव—उद्धव तो देखते रह गये थे ठक्-से। यह छटा, यह शोभा और यह भाव।

'ये आये हैं रथ में ! श्याम नहीं आया ! श्याम नहीं आया मथुरा से !' रक्त के कण नाड़ियों में जहाँ-के-तहाँ रह गये ! पलकें खुली-की-खुली रहीं और देह—जैसे कुछ अत्यन्त कृश मूर्तियाँ कहीं से व्यक्त हो गयीं ! 'कनू ! श्याम !' सखाओं के प्राण पुकारें और उत्तर न मिले ! गौओं की हुंकृति, वंशी का भुवनमोहन स्वर—किसने पुकारा था ? कौन बुला रहा था ? किसकी पुकार पर हँसते-किलकते भागे थे सब पीछे की ओर ?

उद्धव—बड़े अद्भुत आये थे वे उद्धव भी ! मयूरमुकुट, पीताम्बर—कन्हैया का वेश और जब गायें नहीं चराना था, यह वेश क्यों बना रखा था ? गोपाल का वेश और गायें तो चराने आये नहीं कभी वे। एक दिन आकर कहते 'मुझे भी ले लो !' भद्र क्या अस्वीकार कर देता ! भद्र—बालक-सखाओं के नायक भद्र की स्वीकृति ही तो श्याम की स्वीकृति है ! उद्धव—ये मथुरा के लोग—ये नागरिक, जब ये स्वयं नहीं बोलते, कोई कैसे बोले उनसे। ये उद्धव तो देखते ही ठक्-से खड़े देखते रह जाते हैं ! ये तो सायंकाल पथ पर औरों के साथ प्रतीक्षा करते हैं नित्य !

'उद्धव जा रहे हैं। मथुरा जा रहे हैं ! श्याम के पास जा रहे हैं !' अन्ततः एक दिन तो सुनायी पड़ना ही था। 'उद्धव—श्याम के पास उद्धव ! श्याम मथुरा में है !' बालकों के कर क्या उपहार दे सकते हैं ? उनके नेत्र के अश्रु तक तो सूख जाते हैं एक क्षण में !

'ये पुष्प उन अलकों में उलझा देना !' किसने कहा था, कौन बता सकता है ! भद्र, तोक, सुबल—'श्याम नहीं ! श्याम उनके मध्य नहीं !' वे इसे सोच भी सकते हैं ? 'श्याम !' सूखते बिम्बाधर, म्लान होते मुखचन्द्र, मुरझाते प्राण और आधा—आधा पल—'भद्र ! तोक ! भैया !' कौन पुकार लेता है उन्हें ? किसकी मुरली क्रन्दन-सा कर उठती है ? वे किसके पीछे हँसते-कूदते दौड़ पड़ते हैं ?

× × × ×

'श्याम मथुरा में है ! व्रज में नहीं—अब तक नहीं आया वह !' यह प्रसन्नता की मूर्ति—यह व्रज में आकर गोपाल बना चिर परमहंस—यह रोते प्राणों में आनन्द की सुधाधारा बहा देने वाला मधुमङ्गल ! मधु और मङ्गल—मधु और मङ्गल दोनों ही का यह मूर्तविग्रह ही हो तो है ! 'तू भोग लगा !' कन्हाई कितने मान से खिलाता रहा है उसे ! मधुमङ्गल का कौतुक—उसकी मोदक-रुचि—आनन्द, हास्य, विनोद की ही तो क्रीड़ा है वह और श्याम नहीं ! मधु तो ग्रीष्म से भी उत्तप्त हो उठा है ! कनू नहीं—कैसा मङ्गल, कैसा विनोद ! ये नित्य हँसते नेत्र—आज इन सूने—फटे-फटे-से नेत्रों को देखकर पाषाण भी बह चला है !

'कनूँ कहीं है !' यह गिरा सुबल ! सुबल—श्याम का यह परम अन्तरङ्ग ! ये चम्पक गौर सुमन-सुकुमार अङ्ग—ये क्या धूलि में गिरने के लिये—इस प्रकार क्लान्त होने के लिये हैं ! कन्हाई इसी मुख को अपने पटुके से पोंछता था ! श्यामसुन्दर का यह साकार प्राण और श्याम नहीं ! एक पल—एक पल भी चेतना क्या कुछ और सोचने को सावधान रह पाती है !

'श्याम—कितना सरल, कितना सीधा, कितना उदार !' आज कहाँ कोई अपराध दीखता है उस नटखट का। 'मैं उसे झिड़कता, उससे लड़ता और वह तनिक देर में मनाने आ जाता ! लड़-झगड़कर भी एक क्षण पृथक् नहीं हो पाता ! चिढ़ता—वह तभी तो चिढ़ाता था, जब मैं प्रसन्न होता ! कभूँ न चिढ़ाये, न झगड़े—वह कुछ ही दूर हो जाय, प्राण तड़पने लगते और उसके बिना क्या रहा जा सकता है ! अपराध तो मेरा ही है ! भला, श्याम कहीं अपराध कर सकता है !' आज नहीं—आज यह सब अन्तर में उठे, इतना अवकाश नहीं ! ये तो पुरानी बातें हैं। ये तो तब की हुई, जब....पर आज आज की ही तो हैं ! अभी तो वह झगड़ चुका है—अभी, अभी ही तो ! 'श्याम मथुरा में है !' जैसे तीव्रतम विद्युत्-धारा स्पर्श कर गयी हो ! श्याम—जिसकी पीठ पर—सुकोमल पीठ पर चट्टी कसी, जिस इन्दीवर-सुन्दर से लड़े, झगड़े, हँसे-कूदे-खेले, जो प्राणों में बसा है, नहीं है वह ? वेदना की अनुभूति की क्षमता भी कहाँ है हृदय में ! श्रीदाम—कन्हाई के मान की यह गौरव-मूर्ति—एक झोंका भी व्यथा का सह सके, इतनी शक्ति कहाँ है इस सुकुमार सुमन में। यह कम्प, यह वैवर्ण्य, यह गयी चेतना—यह गिरा लकुट और यह श्रीदाम.....।

'कनूँ ! भैया कनूँ ! दादा रे !' यह तोक पुकारता है। तोक पुकारता है। तोक—श्यामसुन्दर का यह परम स्नेह-ललित, यह उसी की इन्दीवर-सुन्दर मूर्ति—यह उसका छोटा भाई तोक। तोक—नन्हा, भोला, अबोध तोक ! यह क्या अपने कनूँ के वियोग की कल्पना सहने के लिये है ? यह श्याम के स्नेह का सखा—यह व्रज के लाड़ की प्रतिमा—यह दुःखी हो—दुःख देखा भी है इसने ? कन्हाई अपने करों से इसके कंधे पर अपना पटुका सजाता। उसी का पीतपट कछनी बना है अब तक कटि में। चपल कन्हैया—अपने छोटे भाई का शृङ्गार करने में भूल ही जाता अपने को। श्याम के कोमल करों की कला तोक के अङ्गों में ही तो मूर्त होती। इसी के अङ्ग पर तो वह अपने कोमलतर चित्र बनाता। औरों को तो चिढ़ाने का ही प्रयत्न करता है वह; पर तोक—तोक को कौन चिढ़ा देगा ? तोक को हँसी में भी कोई छेड़े—किसमें साहस है इतना। कनूँ के विशाल लोचन—तोक किसी से रूठे, श्याम के लोचनों में पहले अरुणिमा आयी धरी है। तोक—कन्हैया इसके घन कुटिल कुन्तलों में पुष्प लगा दे, इसके लिये वनमाला गूँथ दे, इसका शृङ्गार कर दे—कन्हैया ही कर दे। दूसरों से तो यह एक पुष्प लेने से रहा और कनूँ—वही कहाँ अपने छोटे भाई को सजाने, उसका शृङ्गार करने में तृप्त होता है। एक-एक कुसुम, एक-एक किसलय स्वयं लायेगा वह—तोक को सजाना है और दूसरे कहाँ ठीक सुमन चुन पाते हैं। 'तोक, तू मेरे केश नहीं सजायेगा ?' सारे सखा मिलकर सजा लें श्याम को, पर उसे संतोष होने से रहा। तोक को अपने सुमन-चयन में विलम्ब भी तो लगता है। नन्हा तोक—नन्हे-नन्हे सुकुमार सुमन ही उसे रुचते हैं। अञ्जलिभर नन्हे सुमन और कनूँ के मेचक-स्निग्ध केशों में वह उलझा देगा। वह लाकर अपनी अञ्जलि उड़ेल देगा—बस ! कुछ कंधों पर, कुछ शरीर पर—कुछ तो केशों में उलझ ही जायँगे। घन कृष्ण केशों में उलझे तारक-से नन्हे सुमन—तोक ताली बजाकर हँसेगा, कूदेगा, नाचेगा और तोक यह शृङ्गार न कर ले—श्याम का केश शृङ्गार पूरा होने से रहा। कनूँ—इसके तो प्राण ही जैसे तोक में बसते हैं। सखाओं से घिरकर मध्य में बैठेगा भोजन करने; वाम हथेली पर एक ग्रास रख लेगा और तोक समीप आकर—सटकर न बठ जाय—कन्हैया क्या भोजन कर सकता है। कनूँ अपने करों से भोजन कराता है छोटे भाई को। इसकी हथेली के ग्रास का आधे से अधिक पहले यह तोक के मुख में ही तो देता है। 'तोक बैठा है ! तू उसे भोजन नहीं करायेगा।' मैया जानती है, उसका नीलसुन्दर अपने छोटे भाई को भूखा सुनते ही भाग आयेगा। तोक दूसरे के करों से भोजन करने से रहा। उसे तो किसी

प्रकार बैठा लेना है और तब श्याम भी कुछ मुख में ले ही लेगा। तोक के करों के ग्रास के लिये मुख बंद कर ले वह--यह कैसे हो सकता है।

तोक--यह उछलता, हँसता, नाचता तोक! यह सबको चिढ़ा आये, गोपियों को अँगूठे दिखा आये, उनका माखन उठा लाये, मटकी फोड़ आये, सखाओं के छीके छिपा दे, उनके लकुट उठाकर कुञ्ज में रख दे, उन्हें चिढ़ा ले--'यह तो तोक है! तोक ने किया है।' एक स्मित और बस! नन्हा भोला तोक! कौन चिढ़े, कौन रुष्ट हो उससे। उसे जैसे सभी छूट-ही-छूट है। श्रीदामा श्याम से झगड़ ले, गोपियाँ कन्हाई को खिझा लें--तोक को कोई पकड़े--कनूँ के धोखे में ही पकड़ सकता है। इसका दूर्वादल-श्याम अङ्ग, पीताम्बर--धोखे से ही पकड़ा जाता है और तब पकड़ने, खीझने वाले के मुख की ओर मुख मटकाकर, नेत्र नचाकर, अँगूठे दिखा देगा यह--'हूँ!' और--'अरे, यह तो तोक है!' एक हास्य-झेंप। तोक को कोई छेड़े--कन्हाई के काँपते अधर, कुटिल भ्रू, अरुणाभ मुख--पर नन्हे तोक को कोई छेड़े, क्यों छेड़े भला! श्याम तो भूल से छोटे भाई के पकड़े जाने पर आवेश में आ जाता है।

तोक—खेल में वह कहीं हार सकता है? 'चित भी मेरी, पट भी मेरी!' वह तो विजयी-ही-विजयी है! नन्हा तोक पीठ पर बैठेगा—कौन इस सुअवसर को जाने दे! तोक—सखाओं का केन्द्रीभूत स्नेह, व्रज के वात्सल्य की मूर्ति और आज—आज तोक पुकारता है! अपने परमप्रिय कनूँ को पुकारता है! 'कहाँ गया? कहाँ छिप गया कनूँ? क्यों नहीं बोलता? कनूँ! भैया! दादा रे!'

'कनूँ मथुरा है—मथुरा से आया ही नहीं वह!' हाय—तोक, पाटल-मृदुल तोक और उसके नन्हे प्राण—'नहीं है? नहीं आया कनूँ?' अब.....

और यह भद्र--सखाओं का यह नायक भद्र! किसकी-किसकी व्यथा--किसकी-किसकी वेदना का वर्णन हो! ये क्रन्दन करती गौएँ--ये गोपकुमार, गोमाता ही तो परमाराध्य हैं इनकी—ये गायें, वृषभ, बछड़े क्रन्दन करते! 'गोपाल! गोपाल! गोविन्द!' सखा नायक भद्र कैसे एक क्षण सह ले इस व्यथा को।

'ये कंकाल से तरु, ये कण्टक लताएँ! यह पत्रहीन वन, यह तृणशून्य झुलसी-सी भूमि, यह निदारुण निदाघ-पवन, ये प्रज्ज्वलित दिशाएँ! यह हाहाकार करता गगन! गायें—क्रन्दन करती गायें! मूर्छितप्राय सखा! यह ज्वाला! गोविन्द! गोविन्द!' सुकुमार भद्र--उसके विशाल नेत्र खुले-के-खुले--यह गिरा वह। 'गोविन्द--गोविन्द नहीं है!'

× × × ×

'भद्र! भैया भद्र!' कौन अपने पीतपट से यह काञ्चन अङ्ग पोंछने दौड़ आया है! किसके कमललोचन बड़े-बड़े बिन्दु गिराने लगे हैं! 'भद्र! तू स्वप्न देखता है, भैया!'

'तू सोता ही रहेगा?' हैं, कौन खींचता है चुटिया? कौन किलकता, चिढ़ाता है! मधु-मङ्गल चौंके नहीं तो क्या करे! 'मैं तेरे छीके के सारे मोदक खा लेता हूँ।' सारे मोदक--बड़ा चपल है यह, कुछ कठिन नहीं इसके लिये और मधुमङ्गल अब दौड़ेगा ही। इस अपने नटखट सखा से अपना छीका बचाना ही चाहिये उसे।

'सुबल, देख न गायें कितनी दूर चली गयी हैं! मुझसे इतनी दूर नहीं जाया जायगा! तू उठ--उठ तो तू!' कौन कहता है? कौन अनुनय करता है? किसके स्नेह-सने स्वर हैं ये। सुबल--ओह, गायें दूर चली गयीं, सचमुच दूर चली गयीं। सुबल--उसका कनूँ कैसे इतनी दूर जा सकता है। कन्हैया थके, क्या आवश्यकता है इसकी।

'दाम! तेरा कन्दुक कहाँ है, कुछ पता है तुझे?' कन्दुक--कन्दुक छिपा दिया इस चपल ने। 'तू साँप पर सोने मत जा! ले जा कन्दुक लेना है तो!' ना, दाम अब कन्दुक के लिये नहीं झगड़ेगा! इस नटखट का क्या ठिकाना--उस दिन यह कन्दुक के पीछे ह्रद में ही कूद पड़ा।

कन्दुक--पर कन्दुक उसका है न ! कहाँ--कहाँ छिपाया इसने ! क्या कहता है यह ! श्रीदाम क्यों ऐसे ही छोड़ दे।

'आया ! ले, आ गया ! देख तो--तेरी अलकों में लगाने को कितने सुन्दर कुसुम लाया हूँ !' तोक पुकारे और उत्तर न मिले ! तनिक विलम्ब हो गया--पुष्पों के लिये कुछ दूर चला गया था--इतना ही तो।

ये लहराती कुसुम-स्तबकों से झूमती लतिकाएँ, ये फलभार से विनम्र तरु, यह मृदुल हरित तृणराजि, यह मन्द शीतल सुरभित समीर, ये हुंकारती गायें, फुदकते वत्स, गर्जन करते वृषभ--इन नाचते मयूरों, गुंजार करते भ्रमरों, कलरव करते पक्षियों के मध्य यह वृन्दावन—व्रज का यह अतुल सौन्दर्य ! व्रज में वियोग--इन प्रेम-प्रतिमाओं में व्यथा--एक पल की लहर, आयी और गयी ! यह आ ही भर तो जाती है—श्याम—यह इनका श्याम, यह कदम्बमूल में ललित त्रिभङ्गी, यह लहराया मयूरमुकुट--यह आयी मुरली अधरों पर ! यह ध्वनि--यह विश्वचेतना को एकाग्र कर गूँजती ध्वनि ! शाश्वत--चिरन्तन यह स्वर-लहरी !

—❀⊂❀⊂❀—

"रागान्धगोपीजनवन्दिताभ्यां
योगीन्द्रभृङ्गेन्द्रनिषेविताभ्याम् ।
आताम्रपङ्केरुहविभ्रमाभ्यां
स्वामिन् पदाभ्यामयमञ्जलिस्ते ।।"

—श्रीलीलाशुक